कठोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)

स्वामी त्रिभुवन दास

कठोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

(विमर्शात्मक संस्करण)

व्याख्याकार

स्वामी त्रिभुवनदास

KATHOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

(Critical Edition)

BY

Swami Tribhuvandass

आत्मनिवेदन

'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ के लेखनकाल में कुछ विद्वान् महापुरुषों ने उपनिषदों की व्याख्या लिखने का अनुरोध किया था। 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' और 'ईशावास्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या' के प्रकाशन तथा तत्त्वत्रयम् और केनोपनिषत् के व्याख्यालेखन के पश्चात् प्रभुप्रेरणा से प्रेरित होकर कठोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या का प्रणयन हुआ है। मैंने व्याकरण तथा वेदान्त के अप्रतिम विद्वान् पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम स्वामी शंकारानन्द सरस्वतीजी से विशिष्टाद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया था। पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज और परम सुहृद् अनन्तश्रीविभूषित भक्तिशास्त्रमर्मज्ञ श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्यके प्रेरणास्रोत रहे हैं। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

श्रीमहेशचन्द्र मासीवाल (साहित्याचार्य- एम्. एड्., संस्कृत शिक्षक, पी. वाय्. डी. एस्. लर्निंग ऐकेडमी, देहरादून) ने तत्परता से अक्षरसंयोजन, श्रीरुद्रनारायणदास (रामानन्द आश्रम,ऋषीकेश)ने अक्षरशुद्धिनिरीक्षण तथा स्वामी महेशानन्द (ज्योतिर्विद् और वेदान्तविद्वान्) स्वर्गाश्रम ने कुशलता से सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है। इन सभी के

परिश्रम के परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

श्रीजगन्नाथरथयात्रा
आषाढ शुक्ल द्वितीया
वि.सं. 2072

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गङ्गालाइन
स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश), उत्तराखण्ड
पिन- 249304
चलवाणी- 8057825137 (8 से 10 p.m)

सम्पादकीय

कठोपनिषत् की व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के करकमलों में समर्पित है। इस में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिस से सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ अत्यन्त सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की संक्षिप्त समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य हो गया है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदों के अध्येता इस ग्रन्थ रत्नका आदर करेंगे।

स्वामी महेशानन्द
'मातोश्री', ग्राम-जौंक
पो.- स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड, पिन- 249304

प्रस्तावना

विश्ववाङ्मय में संस्कृत साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है और संस्कृत सहित्य में वेद सर्वोच्च स्थान पर सुशोभित होते हैं। उसका सार उपनिषत् है इसलिए उसका प्रस्थानत्रयी में प्रथमत्वेन परिगणन होता है। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व भेद से वेद चतुर्धा विभक्त होते हैं। उनके सामान्यरूप से संहिता, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषत् ये चार भेद होते हैं। संहिता, ब्राह्मण अथवा आरण्यक के अन्त में उपनिषत् सन्निविष्ट होती है। उपनिषत् वैदिक वाङ्मय में शिखर के स्थान पर विराजमान होकर अपनी सुगन्ध सब ओर प्रसारित करती है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के रहस्य का बोध कराते हैं। इसी प्रकार गीता जो कि श्रीभगवान् के द्वारा साक्षात् प्रोक्त होने से भगवद्गीता कही जाती है, वह भी उपनिषदों के रहस्य विषयों से युक्त है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी में प्रथमत्वेन परिगणित उपनिषत् ही शेष दो का आधार और बीज है।

इस परिवर्तनशील जगत् में सभी प्राणी जीवनपर्यन्त तापत्रय से पीड़ित होते रहते हैं। प्रतिदिन अनुभव में आने वाले इन के निवारण के उपाय का सभी अन्वेषण करते हैं। उपनिषत् परितप्त मन वाले मुमुक्षु प्राणी के मन की आत्यन्तिकी शान्ति का उपाय है।

उपनिषत्- गुरुकुल में गुरु के समीप बैठकर उनसे ग्रहण की जाने वाली विद्या उपनिषत् कहलाती है- **उप समीपे, निषद्य- उपविश्य, शिष्येण गुरोः गृह्यमाणत्वाद् उपनिषदिति।** परब्रह्म का बोध कराने वाली उपनिषद्विद्या गुरु की सन्निधि में वास करके शुश्रूषापूर्वक ही प्राप्त करनी चाहिए। परब्रह्म का बोधक रहस्य विद्या ही उपनिषत् कही जाती है, उपचार से ग्रन्थ भी उपनिषत् कहा जाता है। **यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च** (म.भा.शां.47.26) यह महाभारत वाक्य देवता का प्रतिपादन करने वाले वेद के मन्त्रभाग को निषत् कहता है। देवताओं के अन्तरात्मा रूप से परमात्मा भी मन्त्रभाग से प्रतिपाद्य होते हैं। उनके समीप ले जाने से परमात्मा का साक्षात् प्रतिपादक वेदभाग उपनिषत्

कहलाता है- **परमात्मनः उप समीपं नयनात् उपनिषत्वम्।** जीवात्मा अनादि कर्मरूप अविद्या के कारण परमात्मा से दूर (विमुख) हो गया है, वह उपनिषद्रूप ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या निवृत्त होने पर उनके समीप हो जाता है।

कठोपनिषत् - **एकशतमध्वर्युशाखाः** (महाभाष्य पस्पशाह्निक) इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने शुक्ल और कृष्ण भेद वाले यजुर्वेद की 101 शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध दश उपनिषदों में कठोपनिषत् तृतीय स्थान पर है। यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत होने से कठोपनिषत् कही जाती है। **काठकं नाम यजुर्वेदस्य शाखाऽन्तरम्।** (विधिविवेक 1.1.8) कठशाखा का ही काठक नाम होने से यह काठकोपनिषत् भी कही जाती है। इसमें दो अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ की मन्त्रसंख्या 120 है। यह उपनिषद् आख्यायिकारूप है। तत्त्व का सुखपूर्वक बोध कराने के लिए एक कथा के संवाद को प्रदर्शित करके उस के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन आख्यायिका कहलाता है। नचिकेता के पूर्ववृत्तान्त को कहकर ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन करने से यह उपनिषद् आख्यायिका कही जाती है। इसमें आचार्य यमराज और शिष्य नचिकेता के संवादरूप से परावर तत्त्व का अत्यन्त मनोरम और विशद वर्णन किया गया है। तत्त्व का गम्भीर विवेचन होने पर भी इसकी वर्णनशैली सरल-सुबोध और हृदयग्राही है।

कठोपनिषत् का सार - नचिकेता के पिता महर्षि वाजश्रवस ने स्वर्गफल की कामना से विश्वजित् नामक याग का अनुष्ठान किया और उसमें विधि के अनुसार सर्वस्व दान कर दिया किन्तु दान में उन गायों को भी दे दिया जो दूध देने और गर्भधारण करने के अयोग्य थीं तथा वृद्धावस्था के कारण दन्तविहीन होने से चारा खाने में भी असमर्थ और अत्यन्त दुर्बल थीं। पिता के इस कार्य से असंतुष्ट होकर नचिकेता ने कहा- हे तात! आप मुझे किसे देंगे। इस प्रकार बालसुलभ चपलता प्रदर्शित करते हुए पुनः पुनः कहने पर पिता को क्रोध आ गया और उन्होंने कहा - ''मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।'' यह सुनकर नचिकेता पिता

के वचन का परिपालन करने के लिए यमलोक चला गया। वहाँ तीन रात्रि उपवास करने पर जब यमराज प्रवास से वापस आए तब तीन रात्रि में उपवास के प्रतिनिधिरूप से तीन वर प्रदान किए। पिता का क्रोध और खेद शान्त हो जाए, वे मुझ पर प्रसन्न हों, यह उसने प्रथम वर से माँगा तथा मोक्ष का साधन अग्निविद्या[1] (अग्निसाध्य कर्म का ज्ञान) की द्वितीयवर से याचना की। मुक्तावस्था में आत्मा कैसे रहती है? इस प्रकार मुक्तात्मस्वरूप की जिज्ञासा तृतीय वर से की । यमदेवता ने नचिकेता को प्रथम और द्वितीय वर तुरन्त दे दिए किन्तु तृतीय वर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और गोपनीय होने के कारण बालक उसे प्राप्त करने योग्य है या नहीं? यह जानने के लिए दीर्घ आयु वाले पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, रथ, सकल भूमण्डल का साम्राज्य तथा यथेच्छ आयु देने को कहा इतना ही नहीं अपितु इस लोक के प्राणियों को सर्वथा दुर्लभ विविध भोग्य पदार्थों को तथा वाद्य और वाहन के सहित परिचर्या के लिए सदा तैयार सुन्दर अप्सराओं को भी देने के लिए कहा किन्तु नचिकेता तीव्र वैराग्य के कारण इनसे विचलित न होकर अभीष्टप्राप्ति के लिए अटल बना रहा। किसी भी विषय में आसक्त न होने के कारण उत्तम अधिकारी समझकर यमराज ने तृतीय वर के रूप में उसे मुक्तात्मस्वरूप का उपदेश किया। मुक्तात्मा के द्वारा प्राप्य ब्रह्मतत्त्व प्रणव का प्रतिपाद्य है। यह शमादि से युक्त भक्त के द्वारा ही प्राप्य है, अत्यन्त सूक्ष्म है और सभी में व्याप्त है। घोड़ों की तरह अत्यन्त चंचल इन्द्रियों का वशीकरण उसकी प्राप्ति का साधन है। **नवद्वारे पुरे देही** (गी.5.13) इस प्रकार गीता में 9 द्वार वाला शरीर कहा गया है किन्तु यहा नाभि और सुषुम्ना के द्वारों को मिलाकर **पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः** (क.उ.1.2.1) इस प्रकार 11द्वारों वाला कहा गया है। इस देह के हृदय भाग में

टिप्पणी - 1 मोक्ष का साक्षात् साधन ब्रह्मविद्या ही है। कर्म तो अन्तःकरण की शुद्धि के साधन हैं, वे ब्रह्मविद्या के द्वारा मोक्ष के साधन बनते हैं। इसीलिए "जो मुमुक्षु ब्रह्मविद्या और कर्म दोनों को अङ्गादि भाव से अनुष्ठेय जानता है, वह कर्म से ब्रह्मविद्या के प्रतिबन्ध क प्राचीन कर्मों का अतिक्रमण करके ब्रह्मविद्या से मोक्ष प्राप्त करता है"- **विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥** (ई.उ.11) यह ईशावास्य श्रुति विद्या और कर्म दोनों की आवश्यकता का बोध कराती है।

निवास करने वाले परमात्मा हैं उनके ही साक्षात्कार से मोक्ष होता है।

कुछ विदानों का कहना है कि मरने के बाद आत्मा रहती है ?या नहीं? ऐसा संशय होने के कारण देह से भिन्न आत्मा के विषय में **येयं प्रेते विचिकित्सा** (क.उ.1.3.21) इस प्रकार नचिकेता ने जिज्ञासा की है उनका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व समझने के कारण ही परलोक में पिता के अनिष्ट की आशंका से 'आप मुझे किस ऋत्विक् को देंगे?' ऐसा कहा था। यमलोक जाने पर क्या किसी को भी देह से अतिरिक्त आत्मा के विषय में संदेह रह सकता है? अत: नचिकेता की जिज्ञासा मुक्तात्मस्वरूपविषयक ही है? इस प्रकार कठोपनिषत् की सभी वल्लियों में नचिकेता के उपाख्यान् का आश्रय लेकर ब्रह्म तत्त्व का निरूपण किया गया है।

ऋग्वेद में नाचिकेतोपाख्यान– जिस उत्तम पत्तों वाले वृक्ष के नीचे बैठकर देवताओं के साथ यम देवता रसपान करता है। वहाँ पूर्वजों के साथ नचिकेता भी जाकर बैठे, ऐसी नचिकेता जैसी सन्तानों का पालक पिता वाजश्रवस कामना करता है– **यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः। अत्र नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति॥** (ऋग्वेद 10.135. 1) यहाँ से लेकर ऋग्वेद के सात मन्त्रों में नाचिकेतोपाख्यान वर्णित है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाचिकेतोपाख्यान– तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड, एकादश प्रपाठक, अष्टम अनुवाक में उपलब्ध नाचिकेतोपाख्यान इस प्रकार है। वाजश्रवस ऋषि ने विश्वजित् याग करके ब्राह्मणों को सर्वस्व दान कर दिया, उस समय उनका पुत्र नचिकेता उपनयन के योग्य 8 वर्ष का था। दक्षिणा के रूप में अनुपयोगी गायों को देने पर उसने पिता से पूँछा कि आप मुझे किसे दे रहे हैं? ऐसा आग्रहपूर्ण वचन बारम्बार कहने पर पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ। उसी समय किसी अदृश्य अशरीरी वाक् ने नचिकेता से कहा कि तुम्हारे पिता ने तुझे मृत्यु को दे दिया है, तुम वहाँ जाकर तीन दिन विना खाए-पिए रहना। यम के आने पर जब वे पूँछें कि प्रथम दिन क्या खाया? तो उत्तर देना कि तुम्हारी प्रजा को खाया। जिस गृहस्वामी के यहाँ

अतिथि केवल एक दिन निराहार रहता है, उसकी प्रजा का क्षय हो जाता है। यह उत्तर का अभिप्राय है। द्वितीय दिन क्या खाया? ऐसा कहने पर तुम्हारे पशुओं को और तृतीय दिन क्या खाया? ऐसा पूँछने पर तुम्हारे पुण्य को खाया? ऐसा उत्तर देना। यमराज ने नचिकेता से शास्त्रसम्मत उत्तर पाकर तीन वर दिये। मैं जीवित होकर पिता के पास जाऊँ, नचिकेता ने ऐसा प्रथम वर माँगा। द्वितीय वर से इष्टापूर्त (श्रौतस्मार्त) कर्मों के अक्षय होने का साधन माँगा और तृतीय वर से मृत्यु को जीतने अर्थात् मोक्ष के साधन की याचना की।

महाभारत में नाचिकेतोपाख्यान- महाभारत में अनुशासन पर्वके अन्तर्गत 71वें अध्याय में वर्णित नाचिकेतोपाख्यान इस प्रकार है- यज्ञ का नियम पूरा होने पर महर्षि उद्दालक ने अपने पुत्र नाचिकेत[1] से कहा कि मैंने समिधा, कुश, पुष्प, जल का घड़ा और कन्द-मूलादि भोज्य सामग्री का संचय करके नदीतट पर रखकर स्नान और वेद पाठ किया। तदुपरान्त उन सब को भूलकर यहाँ चला आया, तुम जाकर उसे ले आओ। सारा सामान नदी के वेग में बह गया था, अत: नाचिकेत वहाँ जाने पर भी प्राप्त न कर सका और लौटकर पिता से कहा कि वहाँ मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दिया। उस समय तपस्वी पिता क्षुधा-पिपासा से व्यथित हो रहे थे अत: उन्हें क्रोध आ गया और कहने लगे-जाओ, यमराज को देखो। इस प्रकार पुत्र को शाप दे दिया। पिता के वाग्वज्र से घायल नाचिकेत हाथ जोड़कर कहने लगा कि पिता जी आप प्रसन्न हो जाइए। यह कहते ही वह निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर गया। उसे देखकर पिता भी दु:ख से मूर्च्छित हो गये। उन्होंने शेष दिन और रात्रि संतप्त होकर विलाप करते हुए व्यतीत की। फिर कुश की चटाई पर पिता के अश्रुओं से सिञ्चित नाचिकेत का शरीर सचेत हो गया और दिव्य सुगन्ध से व्याप्त हो गया। पिता के पूँछने पर उसने यमलोक के अद्भुत वृतान्त का वर्णन किया- यम ने मेरा स्वागत किया और अपने तेजस्वी रथ पर बैठाकर पुण्यकर्ताओं के लोकों के दर्शन कराके मुझे यहाँ

टिप्पणी - 1. वेद में उद्दालक के पुत्र का नचिकेता नाम मिलता है तथा महाभारत आदि में नाचिकेत नाम मिलता है।

भेज दिया। वहाँ यमराज ने गोदान की अद्भुत महिमा का वर्णन किया था। उत्तम स्वभाव वाली, उत्तम बछड़े वाली और भागकर न जाने वाली दुधारू गाय का काँस्य के दुग्धपात्र सहित जो दान करता है, वह गाय के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने वर्ष तक स्वर्ग का सुख भोगता है- **'दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्साम् अपलायिनीं च। यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्** (म. भा.अ.71.33)' गायें दूध देकर मनुष्य का स्वास्थ्यरक्षण करके उन्हें कष्ट से तार देती हैं, वे लोक में अन्न पैदा करती हैं। इस बात को जानकर भी जो गायों के प्रति सौहार्द नहीं रखता, वह पापी अवश्य नरक में जाता है- **गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके। यस्तं जानन्न गवां हार्दमेति स वै गन्ता निरयं पापचेताः** (म. भा.अ.71.52) इस प्रकार यमराज ने स्वयं नाचिकेत को गोमहिमा सुनाई। कठोपनिषद् के अनुसार भी नचिकेता के मन में जो पिता के कल्याण की भावना थी, वह भी गायों के प्रति सौहार्द के कारण थी। इसी कारण उन्हें साक्षात् धर्मराज से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का संयोग प्राप्त हुआ।

वराहपुराण में नाचिकेतोपाख्यान - वराह पुराण में अध्याय 193 से 212 तक नाचिकेतोपाख्यान प्रस्तुत है। वहाँ वर्णित संक्षिप्त कथा इस प्रकार है- उद्दालक ऋषि समस्त वेद-वेदान्त के पारंगत विद्वान् थे। उनके पुत्र नचिकेता भी अत्यन्त बुद्धिमान् और शास्त्र में निष्णात थे। पिता ने क्रुद्ध होकर नचिकेता को शाप दिया- जाओ, यम को देखे। योगविद्या के विद्वान् पुत्र ने पिता से कहा कि आपका वचन मिथ्या न हो, इसलिए मैं शीघ्र यम के नगर में जाऊँगा और उनका दर्शन करके वापस आ जाऊँगा।

क्रोधाविष्ट होकर शाप देने के पश्चात् उद्दालक को बहुत पश्चाताप हुआ और उन्होंने नचिकेता को यमलोक जाने से बहुत रोका किन्तु नचिकेता ने भावी पुत्रनाश की शंका से त्रस्त पिता को सत्यमार्ग से च्युत होते देखकर पिता के सत्यमार्ग से न हटने का बहुत प्रयास किया। पिता को स्वधर्म पर अचल करके नचिकेता यमलोक गया। यम देवता ने बालक को आया देख यथाविधि स्वागत करके उन्हें लौटा

दिया। वह आनन्दित होकर पिता के आश्रम में आया, तब उद्दालक ऋषि अपने भाग्य की प्रशंसा करने लगे और वहाँ परलोक की कथा सुनने के इच्छुक अन्य ऋषियों को भी बुला लिया। आश्रम में उपस्थित सभी श्रोताओं ने यमलोकविषयक अनेक आश्चर्य जनक प्रश्नों को पूँछा। तब नचिकेता ने उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया और स्वानुभूत नरक की स्थिति का वर्णन किया।

कठोपनिषत् और अन्य उपनिषत्– **नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥** (क.उ.1.2.23) यह मन्त्र मुण्डकोपनिषत् 3.2.3 में यथावत् उपलब्ध होता है। **अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥** (क.उ.1.2.20)॥ **अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्** (श्वे.उ.3.20)। उक्त कठ और श्वेताश्वतर मन्त्रों में ईषत् परिवर्तन है। इसी प्रकार कठ के अन्य मन्त्रों की श्वेताश्वतर तथा अन्य उपनिषत् के मन्त्रों से समानता है।

कठोपनिषत् और श्रीमद्भगवद्गीता– श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप, विश्वविख्यात श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत है। कठोपनिषत् और गीता में बहुत समानता है। इस उपनिषद् के बहुत से मन्त्र गीता में अक्षरक्षः अथवा अधिकांशरूप में मिलते हैं, जैसे– **1. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥** (क.उ.1.2.18) इस मन्त्र से प्रतिपाद्य आत्मा के जरा, मृत्यु आदि का अभाव गीता के प्रस्तुत श्लोक से कहा जाता है– **न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥** (गी.2.20) उक्त मन्त्र और श्लोक का उत्तरार्ध समान है किन्तु पूर्वार्ध में अल्प परिवर्तन है, दोनों का अर्थ एक ही है। **2. हन्ता चेन् मन्यते हन्तुं हतश्चेन् मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं**

हन्ति न हन्यते॥ (क.उ.1.2.19) इस मन्त्र से निरूपित आत्मा के हननकर्तृत्व और हननकर्मत्व के अभाव का प्रस्तुत गीताश्लोक प्रतिपादन करता है- **य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥** (गी.2.19) यहाँ भी मन्त्र और श्लोक का उत्तरार्ध समान है किन्तु पूर्वार्ध का शब्दशः वैषम्य है, पर दोनों का अर्थ एक ही है। **3. ऊर्ध्वमूलो अवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।......॥** (क.उ.2.3.1) **ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥** (गी.15.1) यहाँ भी मन्त्र और श्लोक का पूर्वार्ध समान है।

कठोपनिषत् और पुराण- आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ (क. उ.1.3.3-4) कठोपनिषत् के ये दोनों मन्त्र गरुडपुराण (पूर्वखण्ड आचारकाण्ड 44.6-7) में कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं। **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥** (क.उ.1.2.16) यह मन्त्र कुछ पाठभेद से अग्निपुराण (372.28) में मिलता है और **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥** (क.उ.1.3.10) यह मन्त्र ब्रह्मपुराण (129.23) में मिलता है। इस प्रकार बीजरूप से उपनिषन्मन्त्र परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

ईश, केन तथा तत्त्वत्रय की व्याख्या लेखन के पश्चात् जगज्जननी श्रीसीताम्बा तथा परात्पर प्रभु श्रीरामचन्द्र के अहेतुक अनुग्रह से कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत कठ शाखा की कठोपनिषद् का व्याख्यालेखन हुआ है।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन
स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश),
उत्तराखण्ड, पिन - 249304
चलवाणी-8057825137(8 से 10 p.m)

विषयानुक्रमणिका

कठोपनिषत्

................परिशिष्ट................

कठोपनिषत्

कठोपनिषत्

मूलपाठः

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमावल्ली

हरिः ओम्।।
उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।। 1।।
तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश। सोऽमन्यत।।2।।
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।3।।
स होवाच पितरं, तत! कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।।4।।
बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किंस्वित् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति।।5।।
अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः।।6।।
वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।।7।।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृताञ्च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।8।।
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व।।9।।
शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युः गौतमो माऽभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।10।।
यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ।।11।।
स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।12।।
स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वृणे वरेण ।।13।।
प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्।।14।।
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदत् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनराह तुष्टः ।।15।।
तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृंकाञ्चेमामनेकरूपां गृहाण।।16।।
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।17।।
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतत् विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।18।।
यो वाप्येतां ब्रह्मजज्ञात्मभूतां चितिं विदित्वा चिनुते नाचिकेतम्।
स एव भूत्वा ब्रह्मजज्ञात्मभूतः करोति तद् येन पुनर्न जायते ।।19।।
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासः तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।।20।।
येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।21।।
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।।22।।
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।।23
शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।24।।
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।25।।
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिः मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः।।26।।
श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।27।।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।।28।।
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्व तदास्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अनतिदीर्घे[2] जीविते को रमेत।।29।।
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।30।।
।। इति प्रथमा वल्ली ।।

द्वितीया वल्ली

हरिःओम् ।
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थात् य उ प्रेयो वृणीते।।1।।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।2।।
स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान् अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।3।।
दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।4।।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ।।5।।
न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।6।।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।7।।
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।8।।
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।9।।
जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।10।।
कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।।11।।
तं दुर्दर्श गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।12।।
एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।।13।।
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद् वद।।14।।
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।।15।।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।16।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।17।।
न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो
नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।18।।
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।19।।

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।20।।
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।21।।
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।22।।
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।23।।
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।24।।
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।25।।
।। इति द्वितीया वल्ली ।।

तृतीया वल्ली

हरिः ओम्।।
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्ध्ये।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।1।।
यस्सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि।।2।।
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।3।।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।4।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।5।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।6।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कस्सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।7।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।8।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।9।।
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।।10।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।11।।
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।12।।
यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।13।।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।14।।
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।15।।
नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।।16।।
य इदं परमं गुह्यं श्रावयेत् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति।17

।। इति तृतीया वल्ली ।।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

अथ द्वितीयोध्यायः

प्रथमा वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥1॥
पराचः कामान् अनुयन्ति बालास्ते मृत्योः यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥2॥
येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद् वै तत्॥3॥
स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥4॥
य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद् वै तत्॥5॥
यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद् वै तत्॥6॥
या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत॥ एतद् वै तत्॥7॥
अरण्योः निहितो जातवेदा गर्भ इवेत् सुभृतोः गर्भिणीभिः।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिरग्निः॥
एतद् वै तत्॥8॥
यतश्चोदेति सूर्यो अस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवास्सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन्॥ एतद् वै तत्॥9॥
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥10॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन्।
मृत्योस्स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥11॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद् वै तत्॥12॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद् वै तत्॥13॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक्पश्यंस्तानेवाऽनु विधावति।।14।।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम!।।15।।
।। इति प्रथमा वल्ली ।।

द्वितीया वल्ली

हरिः ओम्।।
पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते।। एतद् वै तत्।।1।।
हंसश्शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।2
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।3।।
अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते।। एतद् वै तत्।।4।।
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।5।।
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।।6।।
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।7।।
य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन्।। एतद् वै तत्।।8।।
अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।9।।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।10।।
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्यः।।11।।
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।12।।
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।13।।
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथन्नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा।।14।।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।15।।
।। इति द्वितीया वल्ली ।।

तृतीया वल्ली

हरिः ओम्।।
ऊर्ध्वमूलो अवाक्शाख एषोऽश्वत्थस्सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्।।1।।
यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्।
महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।।2।।
भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।3।।
इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततस्सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।4।।
यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।।5।।
इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।।6।।
इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसस्सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।।7।।
अव्यक्तात् तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यद् ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।।8।।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।9।।
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्।।10।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।11।।
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।12।।
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।।13।।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।14।।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्।।15।।
शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।16।।
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रमृतमिति।।17।।
मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।।18।।

।। इति तृतीया वल्ली।।

।। इति द्वितीयोऽध्यायः ।।

कठोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्‌गुणौघं तं सीताराममहं भजे।। 1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः।। 2।।
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
कठोपनिषदो व्याख्या सुरम्या क्रियते मया।। 3।।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वय-

ह सः नौ अवतु। ह सः नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु। मा विद्विषावहै।

अर्थ-

वेदान्तवेद्य **ह**- प्रसिद्ध **सः**:- परमात्मा **नौ**- हम दोनों (शिष्य और आचार्य) की (स्वस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा) **अवतु**- रक्षा करे। **ह**- प्रसिद्ध **सः**:- परमात्मा **नौ**- हम दोनों का (ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति से) **भुनक्तु**- पालन करे। (नियम पूर्वक ब्रह्मविद्या के आदान-प्रदान से) हम दोनों **सह**- साथ- साथ (विद्या के) **वीर्यं**- सामर्थ्य को **करवावहै**- करें।

नौ– हम दोनों का **अधीतम्**– अध्ययन **तेजस्वि**– तेजस्वी अर्थात् फलप्रदान करने में समर्थ **अस्तु**– हो। हम दोनों परस्पर में **मा विद्विषावहै**– द्वेष न करें। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**– विद्या के विघ्न तीनों (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) तापों की शान्ति हो।

व्याख्या–

अज्ञानी, विषयलम्पट जीव दुःखालय संसारसागर में निमग्न होकर संतप्त होता रहता है, उसकी संसारभय से रक्षा नहीं होती। परमात्मस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा ही संसारभय से रक्षा होती है, इसलिए साक्षात्कार के द्वारा अपनी रक्षा के लिए **सह नाववतु** इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना की जा रही है। माता–पिता उपयोगी वस्तुओं को उपलब्ध कराके पुत्र का पालन करते हैं। उपयुक्त वस्तु प्राप्त न होने पर ठीक से पालन नहीं होता। त्रिविध ताप से संतप्त वैराग्यवान् मुमुक्षु का ब्रह्मविद्या से ही पालन संभव है, अन्य प्रकार से नहीं अतः **सह नौ भुनक्तु** इस प्रकार ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति से पालन की प्रार्थना की जा रही है। ब्रह्मविद्या के उपदेशक आचार्य और शिष्य दोनों को नियम का पालन करना पड़ता है, नियमपूर्वक प्रदान की गयी विद्या सामर्थ्य वाली होती है और इस से (सामर्थ्य से) युक्त विद्या अपने फल मोक्ष को देने में समर्थ होती है, इसलिए **सह वीर्यं करवावहै** इस प्रकार विद्या के सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए अभ्यर्थना की जा रही है। ब्रह्मसाक्षात्कार से मोक्ष का जनक ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति उपनिषत् के अध्ययन से होती है। उसे तेजस्वी अर्थात् फलप्रदान करने में समर्थ होने के लिए **तेजस्विनावधीतमस्तु** इस प्रकार याचना की जा रही है। हम शिष्य और आचार्य परस्पर में द्वेष न करें। निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म जिस का लक्ष्य है, उस ब्रह्मविद्या पथ के दोंनों पथिक हैं, अतः परस्पर का सौहार्द बना रहे। यह याञ्चा **मा विद्विषावहै** से की जा रही है। सम्पूर्ण तापों के शमन के लिए तीन बार शान्ति शब्द का उच्चारण किया जाता है।

प्राप्य सर्वेश्वर परब्रह्म, प्राप्ता प्रत्यगात्मा और प्राप्ति के साधन उपासना के स्वरूप का सुगमता से बोध कराने के लिए आख्यायिका आरम्भ की जाती है–

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमावल्ली

विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्वदान

हरिः ओम्॥
उशन् ह वै[1] वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस[2] ॥ 1 ॥

अन्वय-

ह वै उशन् वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।

अर्थ-

यह बात **ह वै**- प्रसिद्ध है (कि स्वर्गफल को) **उशन्**- चाहते हुए **वाजश्रवसः**- वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस ने (विश्वजित् याग में अपना) **सर्ववेदसम्**- सम्पूर्ण धन **ददौ**- दान कर दिया। **तस्य**- वाजश्रवस ऋषि का **ह**- प्रसिद्ध **नचिकेता**- नचिकेता **नाम**- नाम वाला **पुत्र**- पुत्र **आस**- था।

व्याख्या-

अन्न आदि का दान करने से जिसकी कीर्ति (यश) होती है, उसे वाजश्रवा कहते हैं- **वाजेन**- अन्नादिदानेन **श्रवः**- कीर्तिः **यस्य स वाजश्रवाः** उस (वाजश्रवाः) का पुत्र वाजश्रवस कहलाता है- **तस्यापत्यं वाजश्रवसः**। प्राचीनकाल में ऋषिप्रसूत पुण्यात्मा सन्तानों से भारतवर्ष की विश्ववन्दनीया वसुन्धरा यज्ञ-होम और उसके सुवासित पावन वातावरण से परिपूर्ण रहती थी। प्रस्तुत आख्यायिका उसी स्वर्णिम काल

टिप्पणी - 1. ह वै इति निपातद्वयम् भूतपूर्वार्थस्मृत्यर्थम् (आ.भा.)।
2. अस्तेर्भूः (अ.सू.2.4.52) इत्येषविधिः छान्दसत्वान्न भवति।

में विद्यमान ऋषिप्रसूत पुण्यात्मा वाजश्रवा का उल्लेख करती है। इन्हीं महर्षि की सन्तान वाजश्रवस हैं। इन्होंने विश्वजित् याग का अनुष्ठान किया था। **विश्वजिता यजेत** इस वेद वाक्य से विश्वजित याग विहित है और वह **स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्** (जै.सू.4.3.15) इस वचन के अनुसार स्वर्ग की प्राप्ति का साधन है। इस कर्म में यजमान को चाहिए कि वह अपना सम्पूर्ण धन दान कर दे, ऐसा नियम है इसलिए गौतम के गौत्र में उत्पन्न वाजश्रवस ने अपना सम्पूर्ण धन याज्ञिकों तथा अन्य ब्राह्मणों को दान कर दिया। उनका नचिकेता नाम वाला एक पुत्र था।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश।
सोऽमन्यत ॥ 2 ॥

अन्वय-

दक्षिणासु नीयमानासु कुमारं सन्तं ह तं श्रद्धा आविवेश। सः अमन्यत।

अर्थ- नचिकेता की श्रद्धा-

दक्षिणासु- दक्षिणा के रूप में (गायों को) **नीयमानासु**- ले जाते समय **कुमारम्**- छोटा बालक **सन्तम्**- होने पर भी **ह**- प्रसिद्ध **तम्**- नचिकेता में (पिता के कल्याणार्थ) **श्रद्धा**- श्रद्धा का **आविवेश**- आवेश हो गया। **सः**- वह **अमन्यत**- विचार करने लगा।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥3॥

अन्वय-

पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः, ताः ददत् सः तान् गच्छति, ते अनन्दाः नाम लोकाः।

अर्थ-

पीतोदकाः- जो गायें जल पी चुकी हैं, **जग्धतृणाः**- घास खा

चुकी हैं, **दुग्धदोहाः**- जिनका दूध दुह लिया गया है (और) **निरिन्द्रियाः**- जो इन्द्रियसामर्थ्य से रहित हैं। **ताः**- उन गायों को **ददत्**- देने वाला **सः**- यजमान **तान्**- उन लोंको को **गच्छति**- जाता है, **ते**- वे गन्तव्य (शास्त्रप्रसिद्ध स्थान) **अनन्दाः**- सुखरहित नरक **नाम**- नामवाले **लोकाः**- लोक हैं।

व्याख्या-

नचिकेता का विचार- यज्ञकर्ता वाजश्रवस ने विश्वजित् यज्ञ में अपनी सभी धन-सम्पत्ति का दान कर दिया किन्तु अनुपयोगी गायों को दान के लिए प्रस्तुत करते समय नचिकेता के मन में विचार आया कि गोदान उत्तम कार्य है किन्तु मेरे पिता जी कैसी गायें दान कर रहे हैं? जो जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं। अब झुककर जल पीने का सामर्थ्य नहीं है। मुख में दाँत न रहने से हरी कोमल घास भी नहीं खा सकती हैं। जिनका इन्द्रियसामर्थ्य क्षीण हो गया है अर्थात् जिनकी नेत्र इन्द्रिय का सामर्थ्य क्षीण होने से ठीक से देख नहीं सकती हैं और पाद इन्द्रिय का सामर्थ्य क्षीण होने से ज्यादा चल नहीं सकती हैं, प्रजननसामर्थ्य क्षीण होने से गर्भधारण नहीं कर सकती हैं, जिनका दूध निकाल लिया गया है अर्थात् जिनके स्तन सूख गये हैं, जो खा-पी नहीं सकती हैं, वे दूध कैसे देंगी? ऐसी गायों को देने से ब्राह्मणों को क्या लाभ होगा? वे मुश्किल से खिला - पिलाकर परेशान होते रहेंगे। ऐसा करने से यजमान को यज्ञ का फल प्राप्त होना तो दूर रहा बल्कि नरक ही होगा, शास्त्र में सुखरहित नरकलोक प्रसिद्ध हैं। इनका मनुस्मृति (4.88-90) में वर्णन मिलता है। विश्वजित् याग में सर्वस्व का दान करना चाहिए, सर्वस्व में 'मैं' भी हूँ किन्तु पिता जी ने मेरा दान नहीं किया। मैं उनका पुत्र हूँ। पिता जी को अनिष्टकारक परिणाम नरक से बचाने के लिए अपना बलिदान भी करुँगा, यही मेरा धर्म है क्योंकि सुत पुन्नाम नरक से पिता की रक्षा करता है, उस कारण ब्रह्मा ने उसका पुत्र नाम कहा है-**पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा** ॥ (म.स्मृ.9.138)

स होवाच पितरं, तत! कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥4॥

अन्वय-

स ह पितरम् उवाच, तत! मां कस्मै दास्यसि इति? द्वितीयं तृतीयं ह तं उवाच, त्वा मृत्यवे ददामि इति।

अर्थ-

सः- नचिकेता ने **ह**- निश्चय करके **पितरम्**- पिता को **उवाच**- कहा कि **तत**[1]- हे तात! (आप) **माम्**- मुझे **कस्मै**- किसे **दास्यसि**- देंगे? (इस प्रश्न का उत्तर न मिलने पर) **द्वितीयम्**- दूसरी बार कहा (और फिर भी उत्तर न मिलने पर) **तृतीयम्**- तीसरी बार कहा (इस प्रकार नचिकेता के पुनः पुनः कहने पर पिता ने क्रोधपूर्वक) **ह**- प्रसिद्ध **तम्**- नचिकेता को **उवाच**- कहा (कि) **त्वा**- तुझे **मृत्यवे**- मृत्यु को **ददामि**- देता हूँ।

व्याख्या-

आत्मदान से यज्ञ की सफलता की प्रार्थना- मैं भी पिता का धन हूँ। मेरे दान से उनको यज्ञ का उत्तम फल प्राप्त हो, ऐसा निश्चय करके श्रद्धालु नचिकेता ने कहा कि आप मुझे किस ऋत्विक् को दक्षिणा में देंगे? पहले अबोध बालक समझकर पिता ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया किन्तु बारम्बार प्रश्न करने पर पिता को क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि तुझे मृत्यु (यमराज) को देता हूँ। पिता का सर्वाधिक प्रिय पुत्र ही होता है फिर भी जैसे डराने के लिए 'तू मर जा', 'तूझे मार डालूँगा', ऐसे वचन पिता बोलता है, वैसे ही 'तूझे मृत्यु को देता हूँ।' यह कहा 'पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो।' ऐसी भावना पिता की नहीं हो सकती।

'मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।' ऐसा कुपित होकर पिता के कहने पर भी नचिकेता को भय और शोक नहीं हुआ, उसने पिता से कहा-

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किंस्वित् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति॥5॥

टिप्पणी - 1. ह्रस्वः छान्दसः।

अन्वय-

बहूनां प्रथमः एमि, बहूनां मध्यमः एमि। यमस्य किंस्वित् कर्तव्यम्, यत् अद्य मया करिष्यति।

अर्थ-

यमदेवता के घर जाने वाले **बहूनाम्**- बहुतों में (मैं) **प्रथमः**- प्रथम **एमि**- जाता हूँ (अथवा) मृत्यु देवता के घर जाने वाले **बहूनाम्**- बहुतों के **मध्यमः**- मध्य में **एमि**- जाता हूँ (वहाँ जाने से मैं डर नहीं रहा हूँ, शोक भी नहीं कर रहा हूँ, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए अवश्य जाऊँगा किन्तु) **यमस्य**- यम का **किंस्वित्**- क्या **कर्तव्यम्**- कार्य है। **यत्**- जिसे वह (यम) **अद्य**- आज **मया**- मेरे द्वारा **करिष्यति**- करेगा।

व्याख्या-

पिता की आज्ञापालन का निश्चय- पिता और आचार्य की आज्ञा का पालन करने वाले पुत्र और शिष्य तीन प्रकार के होते हैं। उनमें जो स्वयं अभिप्राय समझकर विना निर्देश दिये कार्य करते हैं, वे प्रथम हैं, जो कहने पर करते हैं, वे मध्यम हैं किन्तु जो कहने पर भी ठीक से नहीं करते, वे अधम हैं। पिता के हित में तत्पर, श्रद्धालु नचिकेता अधम श्रेणी का नहीं है। वह प्रसन्नता से यमालय जाने को तैयार है। जिससे कि पिता का अभीष्ट सिद्ध हो किन्तु यम देवता तो आप्तकाम हैं, उनका ऐसा कौन सा प्रयोजन है, जिसे वे मुझ बालक द्वारा सम्पन्न करेंगे। यदि मेरे द्वारा उनका कार्य सिद्ध हो तो पिता के द्वारा किया गया मेरा दान सफल हो जायेगा, ऐसा नचिकेता कहने लगा।

भय और क्रोध से रहित पुत्र के सौम्य वचनों को सुनकर 'मैं ऐसा सुयोग्य पुत्र कभी भी मृत्यु को नहीं देना चाहता, क्रोध के कारण ही मैंने वैसा वचन कहा', इस प्रकार पश्चाताप की अग्नि में दग्ध होते पिता को देखकर नचिकेता ने कहा -

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः॥6॥

अन्वय-

पूर्वे यथा तथा अनुपश्य, अपरे प्रतिपश्य। मर्त्यः सस्यम् इव पच्यते, सस्यम् इव पुनः आजायते।

अर्थ-

हे पिता! हमारे **पूर्वे**- पितामह आदि **यथा**- जैसा आचरण करते रहे हैं। **तथा**- वैसा **अनुपश्य**- विचार कीजिए(और) **अपरे**- अन्य महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, उस पर भी, **प्रतिपश्य**- दृष्टिपात कीजिए। **मर्त्यः**- मनुष्य **सस्यम्**- फसल के **इव**- समान **पच्यते**- जीर्ण (वृद्ध) हो जाता है (और मर जाता है, मरकर) **सस्यम्**- फसल के **इव**- समान **पुनः**- पुनः **आजायते**- उत्पन्न हो जाता है।

व्याख्या-

नचिकेता का पितासे कहना है कि हमारे पूर्वज जैसा सत्यभाषण करते थे और प्रतिज्ञापालन में तत्पर रहते थे तथा वर्तमान में भी अन्य महापुरुष जैसा करते हैं, उसका विचार कीजिए और तदनुसार स्वयं आचरण कीजिए। मोहान्ध होकर सत्पुरुषों की परम्परा से विपरीत आचरण न कीजिए। मानव शरीर अस्थिर है। जैसे फसल पककर जीर्ण हो जाती है, फिर उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही मनुष्य वृद्ध होकर मर जाता है और फिर उत्पन्न हो जाता है। मेरे आगमापायी शरीर में ममता का त्याग कीजिए और मुझे यम के पास जाने दीजिए।

नचिकेता पिता को समझाकर और उनकी सम्मति को पाकर यमपुरी चला गया, उस समय मृत्यु देवता बाहर यात्रा में गये थे। नचिकेता उनके द्वार पर तीन दिन अनशन करते हुए आने की प्रतीक्षा करता रहा, चतुर्थ दिन मृत्यु देवता के आने पर वृद्ध द्वारपालों ने कहा -

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ 7॥

अन्वय-

वैश्वानरः ब्राह्मणः अतिथिः गृहान् प्रविशति। तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति। वैवस्वत! उदकं हर।

अर्थ-

वैश्वानरः- अग्निदेवता **ब्राह्मणः**[1]- ब्राह्मण **अतिथिः**- अतिथि होकर **गृहान्**- घरों में **प्रविशति**- प्रवेश करता है इसलिए (बुद्धिमान् मनुष्य) **तस्य**- अतिथि की **एताम्**- दाहनिवारक **शान्तिम्**- शान्ति को **कुर्वन्ति**- करते हैं। **वैवस्वत**- हे सूर्यपूत्र यमराज! (नचिकेता के पाद प्रक्षालन के लिए तुम) **उदकम्**- जल को **हर**- लाओ।

व्याख्या-

नचिकेता के आतिथ्य के लिए निवेदन- अतिथि को भोजन और आवास की अपेक्षा होती है, उसके आतिथ्य-सत्कार की शास्त्रों में बड़ी महिमा है। वह अग्नि के समान है, अतः वह जिसके घर में जाता है, सत्कार न करने पर उस गृहस्थ के सुकृत दग्ध हो जाते हैं इसलिए अतिथि के दाहकत्व शक्ति की शान्ति के लिए अर्घ्य, पाद्य, आसन, भोजन और दक्षिणा से स्वागत करना चाहिए। हे वैवस्वत! आप नचिकेता के पादप्रक्षालन के लिए जल लाइए, ऐसा द्वारपालों ने निवेदन किया।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृताञ्च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥8॥

अन्वय-

यस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य गृहे ब्राह्मणः अनश्नन् वसति। एतद् आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां च इष्टापूर्ते च पुत्रपशून् सर्वान् वृङ्क्ते।

अर्थ-

यस्य- जिस **अल्पमेधसः**- अल्पबुद्धिवाले **पुरुषस्य**- मनुष्य के

टिप्पणी - 1. ब्राह्मणो ब्रह्मज्ञानी अतिथिरूपः (उ.ख.)।

गृहे– घर में **ब्राह्मणः**– ब्राह्मण अतिथि **अनश्नन्**– अनशन करते हुए **वसति**– निवास करता है। **एतद्**– अनशनरूप पाप **आशाप्रतीक्षे**– आशा और प्रतीक्षा को **सङ्गतम्**– सत्संगति को **सूनृताम्**– सत्य और प्रियवचन को **च**– और **इष्टापूर्ते**– श्रौत्र–स्मार्त कर्मों को **च**– तथा **पुत्रपशून्**– पुत्र और पशु **सर्वान्**– इन सभी को **वृङ्क्ते**– नष्ट कर देता है।

व्याख्या–

अतिथिसत्कार न करने से पूर्व सुकृत का नाश– अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा आशा कहलाती है – **आशा अलब्धलाभेच्छा** (सु.) और प्राप्त वस्तु को भोगने की इच्छा प्रतीक्षा कहलाती है– **प्रतीक्षा लब्धस्य भोगवाञ्छा** (सु.)। जिसके घर में अतिथि अनशन करते हुए निवास कहता है, वे अल्पबुद्धि वाले हैं। पूर्व मन्त्र में सत्कार द्वारा अग्निरूप अतिथि की शान्ति कही थी, उसके न करने से अतिथि प्रचण्ड–अग्नि के समान हो जाता है और उसके अनशन से गृहस्थ मनुष्य को जो पाप होता है, वह उसके पूर्वकृत पुण्य को विनष्ट कर देता है, जिससे उसकी आशा और प्रतीक्षा पूर्ण नहीं होती। अतिथिसत्कार न करने से कौन कौन सुकृत नष्ट होते हैं? इस पर कहते हैं– **सङ्गतं सूनृताञ्च इष्टापूर्ते**। श्रौत और स्मार्त कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं। यहाँ कर्मों से होने वाले फलों का सङ्गतम् आदि से ग्रहण होता है। महापुरुषों की सङ्गति से, सत्य और प्रिय वचन बोलने से तथा श्रौत–स्मार्त कर्म करने से जो सुकृत होते हैं, वे सभी अतिथिसत्कार न करने से नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनका फल नहीं मिलता अतः मनोरथ पूर्ण नहीं होते। यागादि श्रौतकर्म इष्ट कहे जाते हैं– **इष्टं यागादि** (प्रका.) और खातादि स्मार्तकर्म पूर्त कहे जाते हैं– **पूर्तं खातादि।** (प्रका.) अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदों की रक्षा, अतिथिसत्कार, बलिवैश्वदेव इन कर्मों को इष्ट (श्रौत) कहते हैं – **अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥** (अ.सं.43) बावली, कूप, तालाब तथा देवमन्दिर का निर्माण, अन्न का दान और उद्यान लगाना, इनको पूर्त कहते हैं– **वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभीधीयते॥** (अ.सं.44) अतिथिसत्कार न करने वाले गृहस्थ के पुत्र और पशु आदि का नाश हो जाता है। जिसके

घर में अतिथि अनशन करते हुए निवास करता है, वह अल्पबुद्धि वाला हो जाता है।

ऐसा द्वारपालों के कहने पर मृत्युदेवता ने नचिकेता से कहा–

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥ 9 ॥

अन्वय–

ब्रह्मन् नमस्यः, ते नमः अस्तु, अतिथि यत् मे गृहे तिस्रः रात्रीः अनश्नन् अवात्सीः,तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व, ब्रह्मन् मे स्वस्ति अस्तु।

अर्थ–

ब्रह्मन्– हे ब्राह्मण! (तुम) **नमस्यः**– नमस्कार करने योग्य हो। **ते**– तुम को **नमः**– नमस्कार **अस्तु**– हो। तुमने **अतिथिः**– अतिथि होते हुए भी **यत्**– जिस कारण **मे**– मेरे **गृहे**– घर में **तिस्रः**– तीन **रात्रीः**– रात्रि[1] **अनश्नन्**– विना खाये **अवात्सीः**– निवास किया, **तस्मात्**– उस कारण **प्रति**– प्रत्येक रात्रि के हिसाब से **त्रीन्**– तीन **वरान्**– वरदान **वृणीष्व**– माँग लो, जिससे **ब्रह्मन्**– हे ब्राह्मण **मे**– मेरा **स्वस्ति**– कल्याण **अस्तु**– हो।

व्याख्या–

यम का नचिकेता को तीन वर देने का संकल्प– ज्ञानी महापुरुष शास्त्र की मर्यादा का पूर्णतः पालन करते हैं। यम तो साक्षात् धर्मराज हैं, वे धर्मात्माओं के लिए अत्यन्त सौम्य–सरल एवं शान्तमूर्ति हैं, अत्यन्त दैन्यभाव से युक्त हैं, दयालु हैं, तभी तो तीन रात्रि अनशन के बदले तीन वरदान देने का संकल्प करते हैं और उनसे (तीन वरदान देने से) अपना कल्याण मानते हैं।

टिप्पणी 1– 1 रात्रि= 1 अहोरात्र= 24 घण्टे। 3 रात्रि= 72 घण्टे।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युः गौतमो माऽभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ 10 ॥

अन्वय-

मृत्यो! गौतम मा अभि शान्तसंकल्पः, सुमना, वीतमन्युः यथा स्यात्। त्वत्प्रसृष्टम् मा प्रतीतः अभिवदेत्, त्रयाणाम् एतत् प्रथमं वरं वृणे।

अर्थ-

मृत्यो!- हे मृत्यु देवता! (मेरे पिता) **गौतमः**- गौतम **मा**- मेरे **अभि**- प्रति **शान्तसंकल्पः**- चिन्तारहित, **सुमना**- प्रसन्नचित्त (और) **वीतमन्युः**- क्रोधरहित **यथा**- जैसे **स्यात्**- हो जाएं और **त्वत्प्रसृष्टम्**- आपके द्वारा प्रेषित **मा**- मुझ पर **प्रतीतः**- प्रसन्न होकर **अभिवदेत्**- आशीर्वाद दें, **त्रयाणां**- तीनों वरों में **एतत्**- इस **प्रथमम्**- प्रथम **वरम्**- वरको **वृणे**- माँगता हूँ।

व्याख्या-

प्रथम वर की प्रार्थना- नचिकेता के यमलोक जाने पर उसके विषय में जो चिन्ता पिता को हो रही थी, उसकी निवृत्ति की, प्रसन्नचित्त रहने की और क्रोधनिवृत्ति की याचना की गयी है तथा मृत्युलोक से आया 'यह प्रेत है' ऐसा समझकर पिता जी भयभीत न हों, बल्कि प्रसन्न होकर आर्शीवाद दें, यह याचना की गयी है।

नचिकेता के द्वारा वर माँगने पर मृत्यु देवता ने कहा -

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां दृशिवान्[1] मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥11॥

अन्वय-

आरुणिः औद्दालकिः मत्प्रसृष्टः मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् त्वां दृशिवान्

टिप्पणी - 1. ददृशिवान् इति पाठान्तरः माध्वशांकरभाष्यसंस्करणे।

वीतमन्युः पुरस्ताद् यथा प्रतीतः भविता। रात्रीः सुखं शयिता।।

अर्थ-

प्रथम वर का दान-

आरुणिः- अरुण के गोत्र में उत्पन्न (तुम्हारे पिता) **औद्दालकिः**[2]- महर्षि उद्दालक **मत्प्रसृष्टः**- मेरे से प्रेरित होकर **मृत्युमुखात्**- मुत्यु के मुख से **प्रमुक्तम्**- छुटा हुआ **त्वाम्**- तुम को **दृशिवान्**- देखते हुए **वीतमन्युः**- क्रोधरहित होकर **पुरस्ताद्**- पहले **यथा**- जैसे **प्रतीतः**- प्रसन्न **भविता**- हो जायेंगे। और शेष **रात्रीः**- रात्रियों में **सुखम्**- सुखपूर्वक **शयिता**- सोयेंगे।

नचिकेता द्वितीय वर के लिए प्रार्थना करता है-

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ 12 ॥

अन्वय-

स्वर्गे लोके किंचन भयं न अस्ति, तत्र त्वं न, जरया न बिभेति। स्वर्गलोके अशनायापिपासे उभे तीर्त्वा शोकातिगः मोदते।

अर्थ-

स्वर्गे लोके- मोक्ष स्थान में **किंचन**- कुछ **भयं**- भय **न**- नहीं **अस्ति**- है, **तत्र**- वहाँ **त्वम्**- तुम **न**- नहीं हो, (और वहाँ कोई भी) **जरया**- वृद्धावस्था से **न**- नहीं **बिभेति**- डरता है। **स्वर्गलोके**- मोक्षस्थान में **अशनायापिपासे**- भूख-प्यास **उभे**- दोनों का **तीर्त्वा**- अतिक्रमण करके **शोकातिगः**- शोकरहित होकर **मोदते**- आनन्द को प्राप्त होता है।

व्याख्या-

मोक्षस्थान की प्रशंसा और मोक्ष का बोधक स्वर्ग शब्द- इस

टिप्पणी - 1. उद्दालक एव औद्दालकिः।

मन्त्र में स्वर्गलोक शब्द का देवलोक अर्थ नहीं है अपितु अप्राकृत लोक=त्रिपाद्विभूति भगवद्धाम अर्थ है। यद्यपि इन्द्रादि देवताओं के लोक में निवास करने वालों की जरा अवस्था नहीं होती फिर भी प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित अन्य विशेषताएं अप्राकृत लोक में ही संभव हैं, देवलोक में नहीं। देवता विशाल देवलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वीलोक में आ जाते हैं- **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥** (गी.9.21) इत्यादि वचनों के अनुसार देवलोक की स्थायी प्राप्ति नहीं होती, वहाँ से पतन का भय रहता ही है। अति वैभवसम्पन्न देवता को देखकर सामान्य देवता दुःखी होते हैं। पतन का भय अप्राकृत वैकुण्ठ में नहीं होता। देवलोक में मृत्यु देवता है, जो पुण्य फल के भोग की अवधि पूर्ण होने पर वहाँ से मृत्युलोक में भेज देता है किन्तु भगवल्लोक में मृत्यु नहीं है अतः वे सदा ब्रह्मानुभव करते हुए वहीं रहते हैं, वह लोक नित्य है। भगवद्धाम में ही क्षुधा-पिपासा का अतिक्रमण होता है, देवलोक में नहीं। द्विजोत्तम! परम उदार महर्षे! स्वर्गलोक में निवास करने वाले मुझे क्षुधा और पिपासा बड़ा कष्ट देते हैं, उससे मेरी इन्द्रियाँ व्यथित हो जाती हैं- **तस्येमे स्वर्गभूतस्य क्षुत्पिपासे द्विजोत्तम। बाधेते परमोदार ततोऽहं व्यथितेन्द्रियः** (वा.रा.7.78.11) इस श्रीमद्रामायण वचन के अनुसार देवलोक निवासी क्षुधा-पिपासा से व्यथित भी होते हैं। शोक का अतिक्रमण अप्राकृत लोक में ही होता है, प्राकृत देवलोक में नहीं। उक्त रामायण वचन में स्वर्गवासी एक देवता का शोकाकुल (व्यथित) होना कहा है। रावण आदि राक्षसों के उत्पात से इन्द्र आदि देवताओं को भी शोक होता है। निरतिशय आनन्द तो अप्राकृत ध ाम में ही मिलता है, देवलोक में नहीं, वहाँ तो दुःखमिश्रित आनन्द होता है और वह भी सातिशय। पूर्व मीमांसकों के अनुसार स्वर्ग शब्द निरतिशय सुख का वाचक है किन्तु देवलोक का सुख निरतिशय नहीं है, मोक्ष ही निरतिशय सुखरूप है अतः प्रसङ्गानुसार स्वर्गलोक शब्द का अर्थ मोक्षस्थान ही सिद्ध होता है।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ 13 ॥

अन्वय-

मृत्यो! सः त्वम् स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि, तं मह्यं श्रद्दधानाय प्रब्रूहि। स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते, द्वितीयेन वरेण एतद् वृणे।

अर्थ-

मृत्यो!- हे मृत्यु देवता **सः**- पुराणादि में सर्वज्ञरूप से प्रसिद्ध **त्वम्**- तुम **स्वर्ग्यम्**- मोक्ष का साधन **अग्निम्**- अग्निविद्या को **अध्येषि**- जानते हो। **तम्**- उसका **मह्यम्**- मुझ **श्रद्दधानाय**- श्रद्धालु को **प्रब्रूहि**- उपदेश कीजिए **स्वर्गलोकाः**- परमपद को प्राप्त किए लोग **अमृतत्वम्**- मोक्ष को **भजन्ते**- प्राप्त करते हैं। (अतः) **द्वितीयेन**- द्वितीय **वरेण**- वर से (मोक्ष का साधन) **एतत्**- अग्निविद्या को **वृणे**- माँगता हूँ।

व्याख्या-

द्वितीय वर की याचना- नचिकेता द्वितीय वर से मोक्ष का साधन अग्निविद्या सीखने की याचना करता है। यह (अग्निविद्या) ब्रह्मविद्या द्वारा मोक्षका साधन है। **स्वर्गशब्देनात्र परमपुरुषार्थलक्षणो मोक्षोऽभिधीयते** (श्रीभा.1.4.6) इसप्रकार श्रीभाष्य में आया मोक्षशब्द मोक्षस्थान (अप्राकृत-धाम = परम पद) का बोधक है - **मोक्षशब्दो मोक्षस्थानपरः लोकशब्द-सामानाधिकरण्यात्** (श्रु.प्र.1.4.6)। इस प्रकार वर्णित मोक्ष अपहतपाप्मत्वादि गुणों का आविर्भावरूप है। यह आत्मा अर्चिरादि मार्ग से त्रिपादविभूतिस्थ परब्रह्म को प्राप्त करके उन के तुल्य अपहतपाप्मत्वादिरूप से आविर्भूत होती है- **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते** (छां.उ.8.12.2)।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥ 14॥

अन्वय-

नचिकेतः! स्वर्ग्यम् अग्निं प्रजानन् ते प्र ब्रवीमि, तद् उ मे निबोध। अनन्तलोकाप्तिम् अथो प्रतिष्ठाम्, त्वम् एतत् गुहायां निहितं विद्धि।

अर्थ-

नचिकेतः- हे नचिकेता! **स्वर्ग्यम्**- मोक्ष का साधन **अग्निम्**- अग्निविद्या को **प्रजानन्**- सम्यक् रूप से जानने वाला (मैं) **ते**- तुझे **प्रब्रवीमि**- विवेचन करके कहता हूँ। **तद्**- उसे **उ**- ही **मे**- मेरे उपदेश से **निबोध**- जानो। इससे **अनन्तलोकाप्तिम्**- अपरिच्छिन्न विष्णुलोक की प्राप्ति (और) **अथो**- उसके पश्चात् **प्रतिष्ठाम्**- अपुनरावृत्ति होती है। **त्वम्**- तुम **एतत्**- अग्निविद्या को **गुहायाम्**- हृदयगुहा में **निहितम्**- स्थित **विद्धि**- जानो अर्थात् अन्य लोग ब्रह्मविद्या के अङ्ग अग्निविद्या को नहीं जानते हैं।

व्याख्या-

अग्निविद्या का उपदेश-

धर्मराज नचिकेता को द्वितीय वर के रूप में अग्निविद्या का उपदेश आरम्भ करते हैं। ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है- **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तै.उ.2.1.1) इस श्रुति के अनुसार अनन्तलोकाप्तिम् यहाँ पर अनन्त का अर्थ परब्रह्म नारायण है। अग्निविद्या से ब्रह्मोपासना के द्वारा भगवल्लोक की प्राप्ति होती है और वहाँ शाश्वत स्थिति होती है अर्थात् पुनः मृत्युलोक में जन्म लेने के लिए आना नहीं पड़ता है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदत् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनराह तुष्टः ॥ 15॥

अन्वय-

लोकादिं तम् अग्निं तस्मै उवाच, या इष्टका वा यावती वा यथा च सः अपि तत् यथोक्तं प्रत्यवदत्, अथ तुष्टः अस्य मृत्यु पुनः आह।

अर्थ-

यम देवता ने **लोकादिम्**- मोक्ष का साधन **तम्**- उस **अग्निम्**- अग्निविद्या को **तस्मै**- नचिकेता के लिए **उवाच**- कहा। इष्टका चयन[1]

टिप्पणी - 1. इसे कात्यायनश्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

(वेदी निर्माण)के लिए **या**- जो **इष्टका**- ईंटें चाहिए **वा**- और **यावती**- जितनी चाहिए **वा**- और **यथा**- जिस प्रकार चयन करना चाहिए, वह सब बता दिया। **च**- और सः- नचिकेता ने **अपि**- भी **तत्**- उसे **यथोक्तम्**- ठीक से (जैसा सुना था, वैसा) **प्रत्यवदत्**- सुना दिया **अथ**- इसके पश्चात् **अस्य**- इस पर **तुष्टः**- संतुष्ट होकर **मृत्युः**- मृत्युदेवता ने **पुनः**- पुनः **आह**- कहा।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि[1] भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृंकाञ्चेमामनेकरूपां गृहाण॥ 16 ॥

अन्वय-

महात्मा प्रीयमाणः तम् अब्रवीत्। इह अद्य तव भूयः वरं ददामि। अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता। इमाम् अनेकरूपां च सृंकां गृहाण।

अर्थ-

नाचिकेत अग्निविद्या-

महात्मा- महात्मा यम ने **प्रीयमाणः**- प्रसन्न होकर **तम्**- नचिकेता को **अब्रवीत्**- कहा (कि) **इह**- आपके बुद्धिकौशल पर **अद्य**- अब **तव**- आपको **भूयः**- पुनः **वरं**- चौथा वर **ददामि**- देता हूँ। **अयम्**- यह **अग्निः**- अग्निविद्या **तव**- आपके **एव**- ही **नाम्ना**- नाम (नचिकेत-अग्निविद्या नाम) से **भविता**- होगी। **इमाम्**- इस **अनेकरूपाम्**- अनेक आकर्षकरूपों वाली **च**- और **सृंकाम्[2]**- मधुर संगीतमय ध्वनि करने वाली माला को **गृहाण**- स्वीकार करो।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ 17 ॥

टिप्पणी - 1. ददानि इति पाठान्तरः।

2. सृंकाशब्दोऽपि आभरणध्वन्यनुकरणशब्दः। तादृशध्वनिमतीं रत्नमालाम् इत्यर्थः।

अन्वय-

त्रिकर्मकृत् त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य जन्ममृत्यू तरति। ब्रह्मजज्ञं ईड्यं देवं विदित्वा निचाय्य इमाम् अत्यन्तं शान्तिम् एति।

अर्थ-

त्रिकर्मकृत्- यजन, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों को करने वाला, **त्रिणाचिकेतः**- नाचिकेत नामक अग्नि का तीन बार चयन करने वाला **त्रिभिः**- तीन बार अनुष्ठित नाचिकेत- अग्नि कर्म से **सन्धिम्**- प्रत्यगात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का **एत्य**- साक्षात्कार करके **जन्ममृत्यू**- जन्म और मृत्यु को **तरति**- पार कर जाता है। **ब्रह्मजज्ञम्**[1]- प्रत्यगात्मा को (और) **ईड्यम्**- आराध्य **देवम्**- परमात्मा को **विदित्वा**- गुरु के उपदेश से जानकर (और) **निचाय्य**- साक्षात्कार करके **इमाम्**- (अपनी बुद्धि में स्थित) संसाररूप अनर्थ की निवृत्तिरूप **अत्यन्तम्**- आत्यन्तिकी **शान्तिम्**- शान्ति को **एति**- प्राप्त करता है।

व्याख्या-

अग्निविद्या का फल- देवताओं का यजन (पूजा), वेद का अध्ययन और दान इन तीन कर्मों को करने वाला अथवा पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ इन तीन कर्मों को करने वाला तथा तीन बार नाचिकेत- अग्नि का चयन करने वाला मुमुक्षु तीन बार अनुष्ठान की गयी अग्निविद्या (होम कर्म) द्वारा ब्रह्मोपासना से अपनी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का साक्षात्कार करके जन्म और मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है। **अयं वाव यः पवते** (तै.ब्रा.3.11.7) इत्यादि तीन अनुवाकों के अध्ययनकर्ता को भी त्रिणाचिकेत कहा जाता है। ब्रह्मजज्ञम् शब्द जीवात्मा का वाचक है और देवम्, ईड्य शब्द परमात्मा के वाचक हैं, ऐसा मानकर ऊपर अर्थ किया गया। अब इनका प्रकारान्तर से अर्थ किया जाता है। ब्रह्म का वाचक देव शब्द ब्रह्मात्मक (**ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः**) अर्थ का बोधक है अतः **ईड्यम्**- स्तुति के योग्य **देवम्**- ब्रह्मात्मक **ब्रह्मजज्ञम्**- अपने प्रत्यगात्मस्वरूप को परोक्ष जानकर और

टिप्पणी - **1.** ब्रह्मणो जातत्वात् ज्ञत्वाच्च ब्रह्मजज्ञः (प्रका.)।

साक्षात्कार करके अत्यन्त[1] शान्ति को प्राप्त करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतत् विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ 18॥

अन्वय-

त्रिणाचिकेतः यः एतत् त्रयं विदित्वा एवं विद्वान् नाचिकेतं चिनुते। सः पुरतः मृत्युपाशान् प्रणोद्य शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

अर्थ-

त्रिणाचिकेतः- तीन बार नाचिकेत- अग्नि का चयन करने वाला **यः**- जो **एतत्**- इन **त्रयम्**- अग्निस्वरूप, ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप और ब्रह्मस्वरूप तीनों को **विदित्वा**- जानकर **एवम्**- ऐसे तीनों का **विद्वान्**- अनुसंधान करने वाला साधक **नाचिकेतम्**- नाचिकेत-अग्नि का **चिनुते**- चयन करता है। **सः**- वह **पुरतः**- देहत्याग से पहले ही **मृत्युपाशान्**- रागद्वेषादि को **प्रणोद्य**- दूर करके **शोकातिगः**- शोक से पार होकर **स्वर्गलोके**- मोक्ष स्थान में **मोदते**- आनन्द का अनुभव करता है।

यो वाप्येतां ब्रह्मजज्ञात्मभूतां चितिं विदित्वा चिनुते नाचिकेतम्।
स एव भूत्वा ब्रह्मजज्ञात्मभूतः करोति तद् येन पुनर्न जायते[2]॥19॥

अन्वय-

यः अपि वा एतां चितिं ब्रह्मजज्ञात्मभूतां विदित्वा नाचिकेतं चिनुते। सः एव ब्रह्मजज्ञात्मभूतः भूत्वा तद् करोति, येन पुनः न जायते।

अर्थ-

यः-जो कोई **अपि**- भी **वा**- ऐसी **एताम्**- पूर्वोक्त **चितिम्**-

---

टिप्पणी - 1. जो शान्ति सदा बनी रहे, उसे अत्यन्तशान्ति कहते है, उसके बाद अशान्ति कभी नहीं होती। 2. शंकरभाष्य और माध्वभाष्य के संस्करणों में यह मन्त्र नहीं है, इसे होने पर भी कुछ विद्वानों ने व्याख्या नहीं की किन्तु श्रुतप्रकाशिकाव्याख्याकार सुदर्शनसूरि ने इसकी व्याख्या की है।

अग्निचयन क्रिया को **ब्रह्मजज्ञात्मभूताम्**- ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप **विदित्वा**- जानकर **नाचिकेतम्**- नाचिकेत-अग्नि का **चिनुते**- चयन करता है। **सः**- वह **एव**- ही **ब्रह्मजज्ञात्मभूतः**- ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुसंधान करने वाला **भूत्वा**- होकर **तद्**- ब्रह्मोपासना को **करोति**- करता है, **येन**- जिससे **पुनः**- पुनः **न**- नहीं **जायते**- उत्पन्न होता है।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासः तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ 20॥

अन्वय-

नचिकेतः स्वर्ग्यः एषः अग्निः ते, यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः। जनासः एतम् अग्निं तव एव प्रवक्ष्यन्ति, नचिकेतः तृतीयं वरं वृणीष्व।

अर्थ-

नचिकेतः- हे नचिकेता! **स्वर्ग्यः**- मोक्ष का साधन **एषः**- यह **अग्निः**- अग्निविद्या **ते**- तेरे लिए (मेरे द्वारा उपदिष्ट है) **यम्**- जिसे **द्वितीयेन**- द्वितीय **वरेण**- वर से **अवृणीथाः**- माँगा था। अब **जनासः**- याज्ञिक मनुष्य **एतम्** - इस **अग्निम्**- अग्नि को **तव**- आपकी **एव**- ही अर्थात् आपके ही नाम से **प्रवक्ष्यन्ति**- कहेंगे। **नचिकेतः**- हे नचिकेता (तुम) **तृतीयम्**- तृतीय **वरम्**- वर को **वृणीष्व**- माँग लो।

व्याख्या-

मोक्ष का बोधक स्वर्गशब्द- इस प्रकरण में अनेक बार पठित स्वर्गशब्द परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का बोधक है, देवलोक का नहीं क्योंकि **स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते।** (क.उ.1.1.13) इस प्रकार मोक्ष स्थान में निवास करने वालों के जन्म और मृत्यु का अभाव कहा जाता है। यह देवलोक में संभव नहीं और **त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।** (क.उ.1.1.17) इस प्रकार स्वर्ग का साधन कर्म करने से जन्म और मृत्यु से पार होना कहा जाता है। देवलोक का साधन कर्म करने से देवलोक की ही प्राप्ति संभव है, मोक्ष का साधन कर्म करने से

(विद्याद्वारा) मोक्ष की प्राप्ति होती है। विनाशी फल की कामना से रहित होने के कारण ही नचिकेता ने तृतीय वर के प्रसंग में (क.उ.1.1. 27–29) विनाशी फलों की निन्दा की, अतः वह **स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि।**(क.उ.1.1.13) इस प्रकार विनाशी फल के साधन की प्रार्थना नहीं कर सकता है। उसने तो अविनाशी मोक्ष के साधन की ही प्रार्थना की है अतः स्वर्गशब्द मोक्ष का ही बोधक है।

शंका– विश्वजित् याग का फल स्वर्ग होगा क्योंकि स्वर्ग सामान्यतः सभी को इष्ट है – **स स्वर्गस्स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्** (जै.सू.4.3.15) इत्यादि प्रयोगों में मोक्ष के विरोधी अर्थ में स्वर्ग शब्द प्रसिद्ध है, इसलिए वह मोक्ष का वाचक नहीं हो सकता है। ध्रुव और सूर्य के मध्य में 14 लाख योजन विस्तार वाला जो स्थान है, लोक की स्थिति का विचार करने वालों ने उसे स्वर्ग लोक कहा है– **ध्रुवसूर्यान्तरं यत्तु नियुतानि चतुर्दश। स्वर्गलोकः स कथितः लोकसंस्थानचिन्तकैः॥** (वि.पु.2.7.18) इस पुराणवचन के अनुसार ध्रुव और सूर्य का मध्यवर्ती देव लोक ही स्वर्ग शब्द का अर्थ है, उसका मोक्ष अर्थ नहीं हो सकता।

समाधान– स्वर्ग शब्द का मुख्यवृत्ति से ही मोक्ष अर्थ होता है। सुख ही स्वर्ग है – **प्रीतिर्हि स्वर्गः** (शा.भा.4.3.15) निरतिशय सुखरूप स्वर्ग है – **स हि निरतिशया प्रीतिः** (टु.टी.4.3.28) स्वर्गशब्द उत्कृष्ट सुख (निरतिशय सुख) अर्थ में रूढ है– **स्वर्गशब्दश्च उत्कृष्टे सुखे रूढः** (जै.न्या.वि.6.1.1.) स्वर्ग निरतिशय सुखरूप होने से सभी को इष्ट है – **स्वर्गः निरतिशय सुखत्वाच्च सर्वपुरुषाणामिष्टः** (जै.न्या.वि.4.3.7)। इस प्रकार पूर्व मीमांसकों ने स्वर्ग शब्द को निरतिशय सुख का वाचक माना है किन्तु निरतिशय सुख वह है, जो एक बार प्राप्त होने पर सदा बना रहे, जिससे कभी च्युत न होना पड़े, ऐसा सुख मोक्ष ही है, इसलिए यह स्वर्ग शब्द का वाच्य है। देवलोक और उसमें प्राप्त होने वाला सुख वैसा नहीं है, वह सातिशय सुख है और स्वर्ग शब्द का वाच्य है। जैसे पार्थ शब्द का अर्थ होता है – पृथा का पुत्र किन्तु पार्थ शब्द का अर्जुन में प्रचुर प्रयोग देखा जाता है, पृथा के अन्य पुत्रों में प्रचुर प्रयोग न होने

पर भी वे पार्थ शब्द के वाच्यार्थ ही हैं। वैसे ही स्वर्ग शब्द का ध्रुव और सूर्य के मध्यवर्तीलोक में प्रचुर प्रयोग देखा देता है, निरतिशय सुख में प्रचुर प्रयोग न होने पर भी वह स्वर्ग शब्द का मुख्यार्थ ही है।

याज्ञिक विद्वानों के द्वारा बर्हि और आज्यादि शब्दों का क्रमशः संस्कृत (संस्कार से युक्त) तृण और घृतादि में प्रयोग किया जाता है, असंस्कृत तृण और घृतादि में नहीं तथापि वे शब्द असंस्कृत तृण और घृतादि के भी वाचक हैं। कुछ लोगों के द्वारा बर्हि, आज्यादि शब्दों का असंस्कृत अर्थों में प्रयोग न करने से उन अर्थों में शब्द की शक्ति का अभाव सिद्ध नहीं होता अतः बर्हि, आज्यादि शब्द तृणत्वादि जाति के बोधक हैं, ऐसा पूर्व मीमांसा के **बर्हिराज्याधिकरण** (जै.सू.1.4.7) में निर्णय किया गया है। तन्त्रवार्तिक (1.4.10) में भी इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार स्वर्ग शब्द मोक्ष का भी बोधक होता है।

स्वर्ग शब्द की देवलोक में रूढि स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि स्वर्ग शब्द का उससे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है। ब्रह्मोपासक पापरहित होकर सर्वश्रेष्ठ अविनाशी भगवद्धाम में स्थित होता है- **अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति** (के.उ. 4.9) ब्रह्मवेत्ता अप्राकृत वैकुण्ठ लोक में ब्रह्म के सभी कल्याण गुणों का अनुभव करते हुए मुक्त हो जाता है – **अमुस्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृतः समभवत्।** (ऐ. उ.4.6)। ब्रह्मज्ञानी इस शरीर से मुक्त होकर अर्चिरादि मार्ग से जाकर सबसे ऊपर भगवल्लोक को प्राप्त करते हैं- **तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः** (बृ.उ.4.4.8) इत्यादि श्रुतियों में स्वर्ग शब्द का मोक्ष अर्थ में प्रयोग हुआ है अतः जिस प्रकार अव्यक्त शब्द की कल्पित प्रधान अर्थ में सांख्यसम्मत रूढि विद्वानों के द्वारा अनादरणीय है, उसी प्रकार देवलोक अर्थ में स्वर्ग शब्द की पौराणिकजनसम्मत रूढि अनादरणीय है इसलिए **स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।** (क.उ.1.1.18) इस मन्त्र में श्रीशंकराचार्य ने (कर्मज्ञान के समुच्चय से साध्य लोक के वाचक) स्वर्गलोक शब्द का (ध्रुव और सूर्य का मध्यवर्ती) प्रसिद्ध देवलोक से अतिरिक्त वैराज अर्थ किया है। यदि कहना चाहें कि स्वर्ग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है- सूर्यलोकोर्ध्ववर्तिलोकत्व, यह विराज पद में है, इसलिए स्वर्ग शब्द का विराज अर्थ होता है तो वह

मोक्षस्थान भगवल्लोक में भी है, इसलिए वह लोक भी स्वर्ग शब्द का अर्थ है। **स्वर्गे लोके** (क.उ.1.1.12) इस मन्त्र में मुक्तों के वास स्थान का ही ग्रहण किया जाता है। **स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते।**(क.उ.1.1.13) इस मन्त्र में परम पद प्राप्त करने वालों को अमृत की प्राप्ति कही गयी है। अध्यात्मशास्त्र में अमृत शब्द का मोक्ष अर्थ होता है। **अजीर्यताममृतानाम्** (क.उ.1.1.29) यहाँ पर अमृतशब्द मुक्त का बोधक है, आपेक्षिक अमृतत्व (सापेक्ष सुख) को प्राप्त करने वाले देवों का बोधक नहीं है। मैंने ब्रह्मप्राप्ति के साधन ज्ञान को उद्देश्य करके अनित्य इष्टका आदि द्रव्यों से नाचिकेत अग्नि का चयन किया और उससे मोक्षफल के साधन ज्ञान को प्राप्त किया- **ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्** (क.1.2.10) और ब्रह्मविद्या के अङ्गभूत नाचिकेत-अग्नि से प्राप्य, नाशरहित परब्रह्म संसारसमुद्र से पार जाने के इच्छुक जनों का भयरहित तीर है, हम उसकी उपासना करने में समर्थ हैं- **अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि** (क.उ.1.3.2) यहाँ पर नाचिकेत-अग्नि के द्वारा प्राप्य परब्रह्म ही कहा गया है, देवलोक नहीं कहा गया अतः इस प्रकरण में स्वर्ग शब्द पुराणप्रसिद्ध स्वर्ग (देवलोक) का बोधक नहीं है। **नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।** (क.उ.1.1.30) नचिकेता ब्रह्म से अतिरिक्त फल को नहीं चाहता अतः उसके द्वारा विनाशी देवलोक की प्रार्थना संभव नहीं है। वह पूर्ण वैराग्यसम्पन्न मुमुक्षु है अतः इस प्रकरण में स्वर्गशब्द मोक्ष का ही बोधक है।

मुमुक्षु नचिकेता ने द्वितीय वर से मोक्ष के साधन अग्निविद्या की जिज्ञासा की। अब वह मोक्ष के स्वरूप के विषय में प्रश्न करता है-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ 21 ॥

अन्वय-

मनुष्ये प्रेते या इयं विचिकित्सा, अयम् अस्ति इति एके च न

अस्ति इति एके। त्वया अनुशिष्टः अहम् एतद् विद्याम्, एषः वराणां तृतीयः वरः।

अर्थ-

मनुष्ये- मोक्षाधिकारी मनुष्य **प्रेते**[1]- सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त होने पर **या**- जो **इयम्**- यह **विचिकित्सा**- संशय होता है (कि) **अयम्**- आत्मा **अस्ति**- आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त होकर ब्रह्मानुभव करती है, **इति**- ऐसा **एके**- कुछ विद्वान् कहते हैं। **च**- और (वह आत्मा) अपहतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त होकर वैसी **न**- नहीं **अस्ति**- रहती है, **इति**- ऐसा (भी) **एके**- कुछ विद्वान् कहते हैं। **त्वया**- आपके द्वारा **अनुशिष्टः**- शिक्षित **अहम्**- मैं (मुक्तावस्था में विद्यमान) **एतद्**- आत्मस्वरूप को **विद्याम्**- जान सकूँ, **एषः**- यह (आपके द्वारा प्रदत्त) **वराणाम्**- वरों में **तृतीयः**- तीसरा **वरः**- वर (मेरे द्वारा प्रार्थनीय) है।

व्याख्या-

तृतीय वर से मोक्षस्वरूप के उपदेश की प्रार्थना- ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष के यथार्थस्वरूप के ज्ञान के लिए यह प्रश्न किया जाता है अतः **येयं प्रेते** यहाँ शरीर का वियोगमात्र अभिप्रेत नहीं है अपितु सभी बन्ध नों का अभाव अभिप्रेत है। ज्ञानी के चरमशरीर का वियोग होने पर देहात्मबुद्धि नहीं होती है- **न प्रेत्य संज्ञास्ति** (बृ.उ.2.4.12) यहाँ भी प्रेत्य का अर्थ सभी बन्धनों का अभाव है। मोक्षाधिकारी पुरुष के चरम शरीर का वियोग होने पर मोक्षकालिक आत्मस्वरूप के विषय में विद्वानों के विभिन्न विरुद्धकथन उपलब्ध होते हैं – कुछ[2] विद्वान् क्षणिक ज्ञान को आत्मा का स्वरूप कहते हैं और उसके उच्छेद (अभाव) को मोक्ष कहते हैं, कुछ[3] विद्वान् ज्ञानमात्र को आत्मा का स्वरूप कहते हैं और उसकी अविद्या की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं और कुछ[4] विद्वान् ज्ञानादि सभी विशेष गुणों के उच्छेद (पाषाण के समान अवस्था) को आत्मा का मोक्ष कहते हैं किन्तु वेदान्तविद्यानिष्णात विद्वान् अनादि कर्मरूप अविद्या के उच्छेदपूर्वक

टिप्पणी -**1.** प्रेते – प्रकर्षेण इते, अत्यन्तं निर्गते प्रकृतिविनिर्मुक्ते सति इत्यर्थः।(सु.)। **2.**बौद्ध। **3.** शांकरमतावलम्बी, **4.** नैयायिक ।

आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टक से विशिष्ट जीवात्मा के स्वाभाविक ब्रह्मानुभव को मोक्ष कहते हैं। यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित,शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है– **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।** (छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्म के गुण कहे गये हैं तथा **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।** (छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में आत्मा के गुण कहे गये हैं। परमात्मा के अपहतपाप्मत्वादि गुण सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु बद्धावस्था में जीवात्मा के ये गुण तिरोहित हो जाते हैं। जीवात्मा त्रिपादविभूति में स्थित परमात्मा को प्राप्त करके अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म (ब्रह्म के) गुणों से आविर्भूत होता है– **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।** (छां.उ.8.12.2) यह श्रुति मुक्तात्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि धर्मों के आविर्भाव का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म का अनुभव करना जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म है किन्तु वह बद्धावस्था में प्रतिबन्धक कर्मरूप अविद्या के कारण नहीं होता । मुक्तावस्था में अविद्या के पूर्णतः निवृत्त होने से उसका ज्ञान गुण विभु होता है, उस समय वह सर्वात्मा ब्रह्म का अनुभव करता रहता है।

नचिकेता ने "चरम देह का वियोग होने पर आत्मा मुक्तावस्था में आविर्भूत गुणाष्टक से युक्त होकर परमात्मा का अनुभव करती है" ऐसा किसी हितैषी से पूर्व में सुना है इसीलिए **स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि** (क.उ.1.1.13) इत्यादि मन्त्र से मोक्ष के साधन अग्नि की जिज्ञासा की किन्तु उसने पूर्वकाल में ही मोक्षस्वरूप के विषय में विभिन्न प्रकार के विरोधी वचनों को भी सुना है इसलिए अब उस विषय में सन्देह उत्पन्न हो रहा है।

भय का कारण पाप कर्म होता है। **स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति।** (क.उ.1.1.12) इस मन्त्र में भय का अभाव कहे जाने से मुक्तावस्था में अपहतपाप्मत्व सिद्ध होता है। **न तत्र त्वं न जरया बिभेति।** (क.उ.1.1.12) यहाँ पर **न तत्र त्वम्** अंश से विमृत्युत्व और **न जरया बिभेति** अंश से विजरत्व का आविर्भाव ज्ञात होता है। **उभे**

तीर्त्वा अशनायापिपासे (क.उ.1.1.12) इससे विजिघत्सत्व और अपिपासत्व का प्रतिपादन होता है तथा **शोकातिगः** (क.उ.1.1.12) से विशोकत्व की सिद्धि होती है। **मोदते स्वर्गलोके** (क.उ.1.1.12) के द्वारा **स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते।** (छां.उ.8.2.1) इस श्रुति से प्रतिपादित सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व का प्रतिपादन किया जाता है।

अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति होने पर आविर्भूत गुणाष्टक वाली आत्मा ब्रह्मानुभव करती है, ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं, वैसा नहीं करती, ऐसा अन्य विद्वान् कहते हैं, ''आप से उपदेश प्राप्त कर मैं मोक्षावस्था में विद्यमान आत्मा के स्वरूप को ठीक से समझ सकूँ।'' नचिकेता ऐसे तीसरे वर की याचना करता है। इस कारण धर्मराज ने उत्तर में कहा है – ''ब्रह्मवेत्ता अपहतपाप्मत्वादि से विशिष्ट अपने स्वरूप को पाकर ब्रह्मानुभवरूप आनन्द को प्राप्त करता है।'' – **स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा** (क.उ.1. 2.13)। यह उत्तर प्रश्न के अनुरूप ही है, इससे सिद्ध होता है कि **येयं प्रेते** यह मन्त्र मोक्षस्वरूप के ही विषय में है।

शांकर मत–

येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके....। (क.उ.शां.भा.1.1.20) इस प्रकार शांकर भाष्य में ''मनुष्य के मर जाने पर देह, इन्द्रिय,मन और बुद्धि से अतिरिक्त देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाली आत्मा रहती है या नहीं।'' ऐसा नचिकेता का संशय कहा गया है।

समीक्षा–

शांकरभाष्यसम्मत उक्त अर्थ समीचीन नहीं है क्योंकि विश्वजित् याग में पिता के द्वारा जीर्ण गायों का दान करने पर उसने विचार किया कि अनुपयोगी गायों को दान करने वाला यजमान सुखरहित नरकलोकों में जाता है– **अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।** (क. उ.1.1.3) यह देह नरक में नहीं जाता है, वहाँ तो देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाली आत्मा जाती है। नचिकेता के द्वारा किए गये पिता के

लोकान्तर में जाने के विचार से यह सिद्ध होता है कि वह देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न आत्मा को जानता है। इस लोक में देहादि से भिन्न आत्मा के विषय में किसी का सन्देह हो सकता है किन्तु यमलोक जाने पर भी क्या वह संशय रह सकता है? कदापि नहीं। इससे यह ज्ञात होता है कि नचिकेता का सन्देह देहादि से भिन्न आत्मा के विषय में नहीं है, मोक्षस्वरूप के ही विषय में है अन्यथा **न हि सुज्ञेयम्** (क.उ.1.1.22) इस प्रकार प्रष्टव्य विषय को दुर्बोध कहना संभव न होता तथा **शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व** (क.उ.1.1.24) इत्यादि रीति से विविध भोगों को देकर भोग पदार्थों के प्रलोभन से परीक्षा करना भी संभव नहीं होता।

इस प्रकार नचिकेता के द्वारा मोक्षस्वरूप पूँछा गया किन्तु प्रष्टव्य विषय अतिगहन होने के कारण उसके साधन को आरम्भ करने में असमर्थ साधक तथा साधन आरम्भ करके लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही विचलित होने वाले साधक उपदेश के अयोग्य हैं, ऐसा मानकर शिष्य के अधिकार की परीक्षा के लिए यम देवता कहते हैं –

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ 22॥

अन्वय–

अत्र पुरा देवैः अपि विचिकित्सितम्, हि एषः सुज्ञेयं न, धर्मः अणुः। नचिकेतः अन्यं वरं वृणीष्व, मा मा उपरोत्सीः, मा एनम् अतिसृज।

अर्थ–

अत्र– मुक्तात्मस्वरूप के विषय में **पुरा**– पूर्वकाल में **देवैः**– बहुदर्शी इन्द्रादि देवताओं ने **अपि**– भी **विचिकित्सितम्**– संशय किया था। **हि**– क्योंकि **एषः**– प्रकृति के सम्बन्ध से विनिर्मुक्त आत्मतत्त्व

टिप्पणी–1.ध्रियमाणत्वात् परमात्मना, आत्मस्वरूपमपि धर्मः। परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिर्हि आत्मा इति भावः (आ.भा.)।

सुज्ञेयम्- सरलता से जानने योग्य **न**- नहीं है। यह **धर्म**[1]- आत्मतत्त्व (मुक्तात्मस्वरूप) **अणुः** - सूक्ष्म है। इसलिए **नचिकेतः**- हे नचिकेता (तुम मुक्तात्मस्वरूप के ज्ञान से) **अन्यम्**- अन्य **वरम्**- वर **वृणीष्व**- माँग लो। आत्मतत्त्व के उपदेश के लिए **मा**- मुझे **मा उपरोत्सीः** - बाध्य न करो। **मा** - मुझसे **एनम्**- इस वर को माँगना **अतिसृज**- छोड़ दो।

व्याख्या-

मुक्तात्मस्वरूप का ज्ञान दुष्कर- मुक्त-अवस्था में आत्मस्वरूप किस प्रकार रहता है, इसे समझना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह गहन विषय है इसीलिए इस विषय में सृष्टि के उत्तर काल में देवता भी संशयग्रस्त हो गये थे। प्रकृति के सम्बन्ध से सर्वथा रहित आत्मस्वरूप का ज्ञान अति दुष्कर है, इसलिए हे नचिकेता! तुम इसके बदले दूसरा वर माँग लो, इसके उपदेश के लिए मुझे बाध्य न करो, आत्मस्वरूप की जिज्ञासा को छोड़ दो।

यदि यमराज को देहादि से अतिरिक्त आत्मस्वरूप का उपदेश करना इष्ट होता और मोक्षावस्था में विद्यमान आत्मा के स्वरूप का उपदेश करना इष्ट नहीं होता तो वे **देवैरत्रापि विचिकित्सितम्** ऐसा नहीं कहते क्योंकि मनुष्य की अपेक्षा देवता अधिक ज्ञान वाले होते हैं उनको देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान रहता है। स्वर्ग चाहने वाले व्यक्ति परलोक के साधन यज्ञादि कर्म करते हैं अतः उनको उस विषय में सन्देह नहीं हो सकता किन्तु यहाँ सन्देह कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि यमराज मुक्तात्मस्वरूप के विषय में उपदेश करना चाहते हैं। इस विषय में देवता भी सन्देह वाले होते हैं।

इस प्रकार मृत्युदेवता के द्वारा वर के त्याग के लिए प्रेरित किये जाने पर भी नचिकेता विचलित नहीं हुआ, उसने कहा -

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥23॥

अन्वय-

मृत्यो अत्र देवैः अपि विचिकित्सितम्, च यत् किल सुज्ञेयं न, त्वम् आत्थ। अस्य त्वादृक् अन्यः वक्ता लभ्यः न, च एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चिद् वरः न।

अर्थ-

मृत्यो- हे मृत्यु देवता! **अत्र**- मुक्तात्मस्वरूप के विषय में (पूर्वकाल में) **देवैः**- देवताओं ने **अपि**- भी **विचिकित्सितम्**- संशय किया था। **च**- और **यत्**- आत्मस्वरूप **किल**- निश्चय ही **सुज्ञेयम्**- सरलता से जानने योग्य **न**- नहीं है, ऐसा **त्वम्**- तुम **आत्थ**- कहते हो। इसलिए **अस्य**- दुर्विज्ञेय आत्मस्वरूप का **त्वादृक्**- तुम्हारे समान **अन्यः**- अन्य **वक्ता**- उपदेशक (मुझे) **लभ्यः**- प्राप्य **न**- नहीं है। **च**- और **एतस्य**- इस वर (आत्मस्वरूप की जिज्ञासा) के **तुल्यः**- समान **अन्यः**- अन्य **कश्चिद्**- कोई **वरः**- वर **न**- नहीं है।

व्याख्या-

नचिकेता की दृढ़ जिज्ञासा- नचिकेता ने कहा- देवताओं ने भी पुरा काल में जिस आत्मस्वरूप के विषय में संदेह किया था और आप भी जिसे दुर्विज्ञेय कहते हैं। उस तत्त्व का आपके समान अन्य वक्ता दुर्लभ है, अतः आप ही मुझ शरणागत को उपदेश कीजिए। मुक्तात्मस्वरूप की जिज्ञासा के समान दूसरा कोई वर नहीं है, जिसे मैं उसके बदले माँगूँ अतः मैं आपसे दुर्लभ आत्मतत्त्व के श्रवण का अधिकारी हूँ।

नचिकेता के दृढ़ मुमुक्षा की परीक्षा के लिए पुनः लोभ देते हुए मृत्यु देवता कहते हैं -

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ 24 ॥

अन्वय-

शतायुषः पुत्रपौत्रान्, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् वृणीष्व। भूमेः महद् आयतनं वृणीष्व च स्वयं यावत् शरदः इच्छसि, जीव।

अर्थ-

शतायुषः- सौ वर्ष की आयु वाले **पुत्रपौत्रान्**- पुत्र और पौत्रों को, गाय-भैंस आदि **बहून्**- बहुत **पशून्**- पशुओं को **हस्तिहिरण्यम्**- हाथी, सुवर्ण और **अश्वान्**- घोड़ों को **वृणीष्व**- माँग लो। **भूमेः**- पृथ्वी का **महत्** - विशाल **आयतनम्**- साम्राज्य **वृणीष्व**- माँग लो। **च**- और **स्वयं**- स्वयं **यावत्**- जितने **शरदः**- वर्ष (जीवन) **इच्छसि**- चाहते हो, (उतने वर्ष) **जीव**- जीवित रहो।

व्याख्या-

मुमुक्षा की परीक्षा- इस लोक में किसी के पुत्र-पौत्र नहीं होते और किसी के होने पर भी शीघ्र कालकवलित हो जाते हैं किन्तु यमदेवता नचिकेता को 100 वर्ष की आयुपर्यन्त जीवित रहने वाले पुत्र-पौत्र देना चाहते हैं। घर में दीर्घजीवी बहुत सन्ताने हों, भरा-पूरा परिवार हो, पर यदि सुख-भोग के साधन न हों तो वैसे जीवन से क्या लाभ? इसलिए यम गाय, बैल, हाथी, अश्व आदि पशु तथा सुवर्ण आदि सम्पत्ति भी देना चाहते हैं। इतना ही नहीं, वे नचिकेता को पृथिवीतल का एक छत्र सम्राट भी बनाना चाहते हैं। मनुष्य की आयु सीमित होती है किन्तु वे नचिकेता की इच्छा के अनुसार आयु भी प्रदान करना चाहते हैं।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।। 25 ।।

अन्वय-

नचिकेतः एतत्तुल्यम् वरं यदि वित्तं च चिरजीविकां मन्यसे, वृणीष्व। महाभूमौ त्वम् एधि, त्वा कामानां कामभाजं करोमि।

अर्थ-

नचिकेतः- हे नचिकेता! **एतत्तुल्यम्**- मुक्तात्मस्वरूप के ज्ञान के समान **वरम्**- वर **यदि**- यदि (तुम) **वित्तम्**- धनसम्पत्ति **च**- और **चिरजीविकाम्**- दीर्घकालिक जीवन को **मन्यसे**- मानते हो, (तो उसे भी) **वृणीष्व**- माँग लो। **महाभूमौ**- विशाल भूमण्डल पर **त्वम्**- तुम (राजा होकर) **एधि**- समृद्धि को प्राप्त हो। **त्वा**- तुमको **कामानाम्**- अप्सरा आदि भोग्य पदार्थों का **कामभाजम्**[1]- अभीष्ट **करोमि**- बनाता हूँ अर्थात् अप्सरा आदि भोग्य विषय तुमको प्रेम से चाहेंगे।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिः मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः॥26॥

अन्वय-

ये ये कामाः मर्त्यलोके दुर्लभाः, सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः, हि ईदृशाः मनुष्यैः लम्भनीयाः न। मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व, नचिकेतः मरणम् अनु मा प्राक्षीः।

अर्थ-

ये ये- जो जो **कामाः**- भोग्य पदार्थ **मर्त्यलोके**- मृत्युलोक में **दुर्लभाः**- दुर्लभ हैं, **सर्वान्**- उन सभी **कामान्**- भोग्य पदार्थों को **छन्दतः**- इच्छानुसार **प्रार्थयस्व**- माँग लो, **सरथाः**- रथों के सहित (और) **सतूर्याः**- वाद्यों के सहित **इमाः**- इन **रामाः**- अप्सराओं को भी माँग लो। **हि**- क्योंकि **ईदृशाः**- ऐसी अप्सराएं (देवताओं के अनुग्रह के विना) **मनुष्यैः**- मनुष्यों के द्वारा **लम्भनीयाः**- प्राप्त करने योग्य **न**- नहीं हैं। **मत्प्रत्ताभिः**- मेरे द्वारा समर्पित **आभिः**- इन अप्सराओं के द्वारा (अपनी) **परिचारयस्व**- सब प्रकार से सेवा करवाओ किन्तु **नचिकेतः**- हे नचिकेता **मरणम्**[2]- सब बन्धनों से विनिर्मुक्ति के **अनु**- पश्चात्

टिप्पणी- 1. कामनाविषयम्। (प्रदी.)। 2. मरणशब्दस्य देहवियोगसामान्यवाचिनोऽपि प्रकरणवशेन विशेषवाचित्वं न दोषाय इति द्रष्टव्यम् (प्रका.)।

विद्यमान मुक्तात्मस्वरूप के विषय में **मा प्राक्षीः**- प्रश्न न करो।

इस प्रकार यमराज के द्वारा प्रलोभन दिये जाने पर भी उससे क्षुब्ध न होने वाले और गम्भीर स्वभाव वाले नचिकेता ने कहा -

श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ 27 ॥

अन्वय-

अन्तक श्वोऽभावाः मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां तेजः जरयन्ति। यत् सर्वं जीवितम्, एतद् अपि अल्पम् एव। तव वाहाः नृत्यगीते तव एव।

अर्थ-

भोग्यपदार्थों का तिरस्कार-

अन्तक- हे यमराज! **श्वोऽभावाः**- विनाशी भोग्य पदार्थ **मर्त्यस्य**- मनुष्य की **सर्वेन्द्रियाणाम्**- सभी इन्द्रियों के **तेजः**- सामर्थ्य को **जरयन्ति**- क्षीण कर देते हैं। **यत्**- जो **सर्वम्**- सम्पूर्ण **जीवितम्**- जीवन है। **एतद्**- यह (सम्पूर्ण जीवन) **अपि**- भी **अल्पम्**- अल्प **एव**- ही है। **तव**- आपके **वाहाः**- हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहन और **नृत्यगीते**- अप्सराओं के नृत्य, गीत भी **तव**- आपके **एव**- ही पास रहें।

मुक्तात्मस्वरूप की दृढ जिज्ञासा-

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ 28 ॥

अन्वय-

मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः चेत् त्वा अद्राक्ष्म, वित्तं लप्स्यामहे। त्वं यावद् ईशिष्यसि, जीविष्यामः तु मे वरणीयः वरः सः एव।

अर्थ-

मनुष्यः- मनुष्य **वित्तेन**- धन से **न**- नहीं **तर्पणीयः**- तृप्त हो सकता है। **चेत्**- यदि (हमने) **त्वा**- आपका **अद्राक्ष्म**- दर्शन कर लिया (तो) **वित्तम्**- धन को **लप्स्यामहे**- प्राप्त ही कर लेगें। **त्वम्**- आप **यावत्**- जब तक (यमलोक में) **ईशिष्यसि**- शासन करेंगे, (तब तक हम) **जीविष्यामः**- जीवित रहेंगे **तु**- किन्तु **मे**- मेरे द्वारा **वरणीयः**- वरण करने योग्य **वरः**- वर **सः**- मुक्तात्मस्वरूप का ज्ञान **एव**- ही है।

व्याख्या-

हे यमराज! आपके द्वारा दिए जाने वाले भोग्य पदार्थ विनाशी हैं, अस्थायी हैं, उनके कल तक रहने का ठिकाना नहीं और ये अप्सरा आदि भोग्य विषय सभी इन्द्रियों के तेज का हरण करने वाले हैं। विषय-इन्द्रिय के संयोग से जो सुख होते हैं, वे दुःखरूप परिणाम वाले तथा अल्प काल रहने वाले होते हैं इसलिए हे कौन्तेय बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता - **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः** (गी.5.22)।। भोगों को भोगने से कामना शान्त नहीं होती अपितु घृत की आहुति से अग्नि के समान बढ़ती ही है - **न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥**(वि. पु.4.10.23) कामनाओं वाला मनुष्य दिन-रात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में जलता रहता है। भोग्य पदार्थों से बुद्धिमान पुरुष का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हमने आपका दर्शन किया है, इसलिए धन तो मुझे मिल ही जाएगा और आपके दर्शन का यह भी अलभ्य लाभ मुझे मिलेगा कि जब तक आप मृत्यु देवता के पद पर हैं, तब तक मेरा भी जीवन रहेगा इसलिए दूसरा वर माँगना उचित नहीं है। मुक्तात्मतत्त्व को जानने के लिए ही मेरा तृतीय वर है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्व तदास्थः[1] प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अनतिदीर्घे[2] जीविते को रमेत॥
29॥

टिप्पणी - 1. तासु अप्सरःप्रभृतिषु आस्थः आसक्तिवान्। यद् वा 'क्वधस्थः' इति पाठान्तरः, तदा **कुः** पृथ्वी **अधः** अधोदेशः तत्र तिष्ठतीति क्वधथस्थः पृथ्वीलोके स्थितः इत्यर्थः। 2.अतिदीर्घे इति पाठान्तरः, तदा अतिदीर्घे जीविते चिरजीविकायाम इत्यर्थः।

अन्वय-

अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य जीर्यन् मर्त्यः प्रजानन् क्व तदास्थः। वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अनतिदीर्घे जीविते कः रमेत?

अर्थ-

अजीर्यताम्- जरा-मरण से रहित **अमृतानाम्**- मुक्त आत्माओं के स्वरूप को (आचार्य के उपदेश से) **उपेत्य**- जानकर **जीर्यन्**- जरा अवस्था को प्राप्त होने वाला **मर्त्यः**- मरणधर्मा **प्रजानन्**- विवेकी मनुष्य **क्व**- किस प्रकार **तदास्थः**- अप्सरा आदि भोग्य पदार्थों में आसक्ति करेगा? परमात्मा के **वर्णरतिप्रमोदान्**- श्रीविग्रह, रति और प्रमोद का **अभिध्यायन्**- सम्यक् चिन्तन करते हुए **अनतिदीर्घे**- अल्प **जीविते**- ऐहिक जीवन में **कः**- कौन **रमेत**- सुखी होगा।

व्याख्या-

नचिकेता ने कहा- जीर्णता को प्राप्त करने वाला मरणधर्मा विवेकी मनुष्य जरामरण से रहित मुक्तात्मा के स्वरूप को जानकर पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, सुवर्ण तथा अप्सरा आदि विनाशी भोग्य पदार्थों में किस प्रकार आसक्ति कर सकता है? अर्थात् विवेकी मनुष्य के द्वारा सांसारिक विषयों में आसक्ति संभव नहीं। अर्जुन ने कहा है कि पृथ्वी पर समृद्ध-निष्कंटक राज्य और देवताओं के भी आधिपत्य को प्राप्त करके मैं उस उपाय को नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को दूर कर सके- **न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्। अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥** (गी.2.8) नचिकेता भी विषयभोग से अपना कल्याण नहीं समझता।

मैं प्रकृतिमण्डल से पर आदित्य के समान भास्वर वर्ण वाले परमात्मा को जानता हूँ - **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** (य.सं.31.18, श्वे.उ.3.3.8) इस प्रकार परमात्मा के श्रीविग्रह का आदित्य के समान भास्वर वर्ण कहा है। दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट

<u>परमात्मा का चिन्तन करने से जो आनन्द होता है, उसे रति कहते हैं और उन का साक्षात्कार करने से जो आनन्द होता है, उसे प्रमोद कहते हैं।</u> उनकी तुलना संसार के किसी भी आनन्द से नहीं हो सकती अतः यहाँ पर वर्णित वर्ण[1], रति और प्रमोद की तुलना में सांसारिक भोग अत्यन्त तुच्छ हैं। यह विनाशी, अस्थायी जीवन भी अत्यन्त तुच्छ है अतः भगवान् के वर्ण, रति और प्रमोद का सम्यक चिन्तन करने वाला व्यक्ति अल्प, ऐहिक जीवन में सुख नहीं मान सकता।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ 30॥

॥ इति प्रथमा वल्ली ॥

अन्वय-

मृत्यो साम्पराये यस्मिन् महति यद् इदं विचिकित्सन्ति। तत् नः ब्रूहि। यः अयं गूढं वरः अनुप्रविष्टः, नचिकेता तस्माद् अन्यं न वृणीते।

अर्थ-

मृत्यो!- हे मृत्यु देवता **साम्पराये**- परलोक से सम्बन्ध रखने वाले **यस्मिन्**- जिस **महति**- मुक्तात्मस्वरूप के विषय में (शास्त्रज्ञ मनुष्य) **यत्**- जो **इदम्**- यह **विचिकित्सन्ति**- संशय करते हैं। **तत्**- उस (आत्मस्वरूप) को **नः**- मुझे **ब्रूहि**- कहिए। **यः**- जो **अयम्**- यह **गूढम्**- गूढ **वरः**- वर (मेरे मन में) **अनुप्रविष्टः**- स्थित है। **नचिकेता**- नचिकेता **तस्माद्**- उससे **अन्यम्**- भिन्न का **न वृणीते**- वरण नहीं करता है।

व्याख्या-

नचिकेता कहता है कि सकल बन्धन से रहित होकर मोक्षस्थान

टिप्पणी- 1. वर्ण अस्ति अस्य इति वर्णः श्रीविग्रहः इत्यर्थः।

से सम्बन्ध रखने वाले जिस आत्मस्वरूप के विषय में लोग संदेह करते हैं, उस तत्त्व का मुझे उपदेश कीजिए। पूर्व में **येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।** (क.उ.1.1.21) इस मन्त्र से "चरम शरीर का वियोग होने पर भगवद्धाम में विद्यमान मुक्तात्मा अपहतपाप्मत्वादि गुणों से विशिष्ट होकर अखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणगुणैकतान, दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट ब्रह्म का अनुभव करने वाला होता है अथवा वैसा नहीं होता।" इस प्रकार संदेह कहा जाता है। इस विषय में मनुष्य ही नहीं, देवता भी संदेह करते हैं। देवताओं का संदेह **देवैरत्रापि विचिकित्सितम्** (क.उ.1.1. 22-23) से कहा जाता है। अभीष्ट वर है- मुक्त आत्मस्वरूप का ज्ञान । नचिकेता उससे भिन्न किसी भी वर की प्रार्थना नहीं करता। इससे उस के लोभ का अभाव सिद्ध होता।

प्रथम वल्ली की व्याख्या समाप्त

द्वितीया वल्ली

इस प्रकार यम देवता अपने शिष्य नचिकेता की परीक्षा से दृढ़ मुमुक्षा का निश्चय करके, उसे ब्रह्मविद्या का योग्य अधिकारी मानते हुए मुमुक्षा की प्रशंसा करने के लिए पूर्व में भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले श्रेय और प्रेय मार्ग का वर्णन करते हैं-

मोक्ष और बन्धन के कारण श्रेय और प्रेय मार्ग

हरिःओम् ।
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु[1] भवति हीयतेऽर्थात् य
उ प्रेयो वृणीते ॥ 1॥

टिप्पणी -1. साधुर्भवति इति पाठान्तरः।

अन्वय-

श्रेय: अन्यत् प्रेय: उत अन्यद् एव, नानार्थे ते उभे पुरुषं सिनीत:। तयो: श्रेय: आददानस्य साधु भवति, य: प्रेय: वृणीते अर्थाद् उ हीयते।

अर्थ-

श्रेय:- अतिप्रशस्त मोक्ष का मार्ग **अन्यत्**- भिन्न है और **प्रेय:**- प्रिय लगने वाला भोग का मार्ग **उत**- भी **अन्यद्**- भिन्न **एव**- ही है। **नानार्थे**- भिन्न -भिन्न फल प्रदान करने वाले **ते**- वे **उभे**- दोनों **पुरुषम्**- मनुष्य को **सिनीत:**- आकर्षित करते हैं। **तयो:**- उन दोनों में **श्रेय:**- मोक्षमार्ग को **आददानस्य**- ग्रहण करने वाले का **साधु**- मंगल (मोक्ष) **भवति**- होता है। (और) **य:**- जो **प्रेय:**- भोगमार्ग का **वृणीते**- वरण करता है। (वह) **अर्थात्**- मोक्षरूप पुरुषार्थ से **उ**- निश्चित **हीयते**- वंचित हो जाता है।

व्याख्या-

यमराज ने नचिकेता को उत्तम अधिकारी समझ कर कहा कि त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिकीनिवृत्तिपूर्वक निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मका अनुभवरूप मोक्ष का मार्ग अन्य है और क्षणिक सुख की प्राप्तिरूप भोग का मार्ग अन्य है। श्रेय शब्द मोक्ष का वाचक होता है और प्रेय शब्द अभ्युदय (लौकिक उन्नति) का वाचक होता है किन्तु वे यहाँ मोक्ष के साधन और अभ्युदय (भोग) के साधन के बोधक हैं। वे दोनों ही मनुष्य को आकर्षित करने वाले होते हैं। इनमें श्रेय मार्ग मोक्षार्थी को अपनी ओर आकर्षित करके अपने (मोक्ष मार्ग) में प्रवृत्त करता है और प्रेय मार्ग भोग की कामना वाले को अपनी ओर आकर्षित करके अपने (भोग मार्ग) में प्रवृत्त करता है। इनमें श्रेयमार्ग को स्वीकार करने वाला मनुष्य संसार चक्र में आवागमन से छूट जाता है और प्रेय मार्ग को स्वीकार करने वाला परम पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता। उसे नित्य सुख की प्राप्ति नहीं होती और भ्रम से सुखरूप प्रतीत होने वाले दु:खात्मक भोग ही मिलते हैं अत: वह सदा शोक, मोह से युक्त होकर अशान्त बना रहता है।

श्रेय और प्रेय ये दोनों मार्ग पुरुषके द्वारा साध्य हैं तो सभी के

द्वारा श्रेय का ही वरण होना चाहिए किन्तु अधिकांश मनुष्यों की प्रेयमार्ग में ही प्रवृत्ति होती है, इसका क्या कारण है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं-

मुमुक्षु और बुभुक्षु के वरणीय श्रेय और प्रेय

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। 2।

अन्वय-

श्रेयः च प्रेयः मनुष्यम् एतः, धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति। धीरः प्रेयसः अभि श्रेयः हि वृणीते, च मन्दः योगक्षेमात् प्रेयः वृणीते।

अर्थ-

श्रेयः- श्रेय मार्ग **च**- और **प्रेयः**- प्रेय मार्ग (ये दोनों) **मनुष्यम्**- मनुष्य को **एतः**- प्राप्त होते हैं। **धीरः**- मुमुक्षु मनुष्य **तौ**- उन दोनों को **सम्परीत्य**- सम्यक समझकर **विविनक्ति**- विवेचन करता है। **धीरः**- मुमुक्षु **प्रेयसः**- प्रेयमार्ग से **अभि**- श्रेष्ठ **श्रेयः**- श्रेयमार्ग का **हि**- ही **वृणीते**- वरण करता है, **च**- और **मन्दः**- बुभुक्षु मनुष्य **योगक्षेमात्**- योगक्षेम के कारण **प्रेयः**- प्रेयमार्ग का **वृणीते**- वरण करता है।

व्याख्या-

मोक्ष का साधन और भोग का साधन ये दोनों ही करने में समर्थ देह-इन्द्रियवाले अधिकारी मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं। अधिकांश मनुष्य तो इनके विषय में विचार ही नहीं कर पाते हैं, वे देवदुर्लभ मानवजीवन को पशु के समान भोग भोगने में ही समाप्त कर देते हैं, विचारवान् मनुष्य के सामने जब ये आते हैं, तब वह इन दोनों को अच्छी प्रकार से समझ कर उनका विवेचन करता है। इसके पश्चात् जैसे हंस दुग्ध और जल दोनों मिश्रित होने पर जल को छोड़कर दुग्ध पी लेता है, वैसे ही मुमुक्षु मनुष्य प्रेय को छोडकर उससे श्रेष्ठ श्रेय का वरण करता है किन्तु बुभुक्षु मनुष्य विवेकशील न होने से देहात्मबुद्धि के कारण योग

और क्षेम का वरण करता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग कहते हैं और प्राप्त वस्तु के संरक्षण को क्षेम कहते हैं।

नचिकेता का वैराग्य

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान् अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ 3 ॥

अन्वय-

नचिकेतः सः त्वं प्रियान् च प्रियरूपान् अभिध्यायन् कामान् अत्यस्राक्षीः। वित्तमयीम् एतां सृंकां न अवाप्तः, यस्यां बहवः मनुष्याः मज्जन्ति।

अर्थ-

नचिकेतः- हे नचिकेता! **सः**- विवेकशील **त्वम्**- तुमने **प्रियान्**[1]- प्रिय लगने वाले पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े तथा सुवर्ण आदि सम्पत्ति को **च**- और **प्रियरूपान्**[2]- आकर्षक रूप, यौवन वाली रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराओं का **अभिध्यायन्**- विचार करते हुए (उन पुत्र-पौत्र आदि तथा अप्सरा आदि) **कामान्**- भोग्य पदार्थों का **अत्यस्राक्षीः**- त्याग कर दिया (और) **वित्तमयीम्**- रत्नों वाली **एताम्**- इस **सृंकाम्**- माला को **न**- नहीं **अवाप्तः**- ग्रहण किया। **यस्याम्**- जिसमें **बहवः**- बहुत **मनुष्याः**- मनुष्य **मज्जन्ति**- आसक्त होते हैं।

व्याख्या-

यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! मैंने तुमको बहुत बार लोभ दिया फिर भी तुमने पुत्र-पौत्र,[3] हाथी-घोड़ा, सुवर्ण आदि सम्पत्ति तथा रमणियों को अनित्य और दोष[4] युक्त समझकर त्याग दिया और मेरे द्वारा प्रदत्त रत्नमयी माला[5] को भी स्वीकार नहीं किया अथवा **वित्तमयीम्**-

---

टिप्पणी- 1. स्वतः प्रियान् पुत्रादीन्। 2. रूपतः प्रियान् अप्सरःप्रभृतीन्। 3. इनका वर्णन पूर्ववल्ली (1.24-26) में है। 4. इनको समझने के लिए ईशावास्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में प्रथम मन्त्र को देखना चाहिए। 5. यह क.उ.1.1.16 में वर्णित है।

धनसंपत्तिरूप **सृंकाम्**- शृंखला (बन्धन) को स्वीकार नहीं किया अथवा **वित्तमयीम्**- धन की बहुलता वाली **सृंकाम्**- कुत्सित गति (प्रेय मार्ग) को स्वीकार नहीं किया। मूढ मनुष्य वित्तमयी सृंका में आसक्त होते हैं। इस लोक में धर्मात्मा और धनवान् के कुल में जन्म लेकर विविध भोगों को भोगते हुए ही कर्मों को करेंगे और मरकर देवता बनकर स्वर्गलोक के भोग भोगेंगे, वहाँ से पुनः यहाँ आकर श्रीमान् के कुल में जन्म लेकर विविध भोगों को भोगते हुए कर्मानुष्ठान करके स्वर्ग जाएंगे। सकाम कर्म करने वालों का यह मार्ग धन और भोग की प्रचुरता वाला प्रेय मार्ग है। इस मार्ग में चलने वाले बहुधा क्लेश पाते रहते हैं। अपने को चतुर और विवेकी मानने वाले बहुत से लोग जिन चमक-दमक वाली वस्तुओं के आकर्षण में फँस जाते हैं, उनमें तुम नहीं फँसे अतः तुम उपदेशश्रवण के उत्तम अधिकारी हो।

ब्रह्मविद्या की योग्यता

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं[1] नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त 4

अन्वय-

या अविद्या इति ज्ञाता च विद्या, एते दूरं विपरीते विषूची। नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं मन्ये, त्वा बहवः कामाः न अलोलुपन्त।

अर्थ-

या- जो **अविद्या**- अविद्या **इति**- इस नाम से **ज्ञाता**- जानी जाती है **च**- और (जो) **विद्या**- विद्या नाम से जानी जाती है। **एते**- ये दोनों **दूरम्**- अत्यन्त **विपरीते**- विपरीत (और) **विषूची**- विरुद्ध फल देने वाली हैं। (मैं तुझ) **नचिकेतसम्**- नचिकेता को **विद्याभीप्सिनम्**- ब्रह्मविद्या का इच्छुक **मन्ये**- मानता हूँ (क्योंकि) **बहवः**- बहुत से **कामाः**- विषय **त्वा**- तुमको **न**- नहीं **अलोलुपन्त**- लुभा सके।

टिप्पणी- 1. विद्याभीप्सितम् इति पाठान्तरः, विद्ययाऽभीप्सितम् इति विग्रहः।

व्याख्या-

वेदों के कर्मकाण्ड भाग में जो प्रसिद्ध काम्य कर्म हैं, वे पण्डितों के द्वारा अविद्या नाम से जाने जाते हैं और वेदान्त में प्रसिद्ध जो ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान है, वह विद्या नाम से जाना जाता है। इनमें प्रेय (भोग) का साधन अविद्या है और श्रेय (मोक्ष) का साधन विद्या है। वे दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विपरीतस्वरूप वाले हैं- अविद्या काम्यकर्मरूप है और विद्या तत्त्वज्ञानरूप है। अविद्या का फल संसार (सांसारिक पदार्थों का भोग) और विद्या का फल मोक्ष है। नचिकेता को विविध प्रकार के लोकोत्तर, आकर्षक विषयों में कोई भी विषय आकर्षित नहीं कर सका इसलिए वह ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी है, जिसे सांसारिक विषयों का आकर्षण होता है, वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता है। वह तो अपने अभीष्ट के साधक काम्य कर्म का अधिकारी है किन्तु नचिकेता निष्काम अन्तःकरण वाला है इसलिए वह श्रेय के साधन ब्रह्मविद्या का पात्र है।

अब काम्यकर्म करनेवालों की अधोगति का वर्णन करते हैं-

काम्य कर्म करने वालों की अधोगति -

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः[1] परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ 5॥

अन्वय-

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः मूढाः दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति, यथा अन्धेन नीयमानाः अन्धाः एव।

अर्थ-

अविद्यायाम्- काम्य कर्म के **अन्तरे**- मध्य में **वर्तमानाः**- निमग्न रहने वाले **स्वयम्**- अपने आप को **धीराः**- बुद्धिमान (और)

टिप्पणी- 1. दन्द्रव्यमाणाः इति पाठान्तरः, दन्द्रव्यमाणाः - विषयकामाग्निना द्रुतचिताः।

पण्डितं मन्यमानाः- पण्डित मानने वाले **मूढाः**- अविवेकी पुरुष **दन्द्रम्यमाणाः**- जरा और व्याधि आदि से पीड़ित होकर (विविध योनियों में) **परियन्ति**- भटकते रहते हैं। **यथा**- जैसे **अन्धेन**- अन्धे से **नीयमानाः**- ले जाये जाने वाले **अन्धाः**- अन्धे इधर-उधर भटकते **एव**- ही रहते हैं।

व्याख्या-

यहाँ अविद्या का अर्थ है- प्रेयमार्ग, उसके एक किनारे पर नहीं बल्कि अन्दर विद्यमान अर्थात् श्रेयमार्ग से तटस्थ होकर पत्नी, पुत्र और धनादि के उद्देश्य से काम्य कर्म में निमग्न रहने वाले, दूसरों की दृष्टि से बुद्धिमान् न होने पर भी स्वयं को बुद्धिमान् और शास्त्र का निष्णात विद्वान् मानने वाले अविवेकी मनुष्य जन्म, जरा, मृत्यु, और रोगादि से होने वाले दुःखों से व्यथित होकर 84 लाख योनियों में इधर से उधर भटकते रहते हैं। जैसे- अन्धे के द्वारा ले जाये जाने वाले अन्धे गड्ढे आदि से युक्त दुर्गम, कन्टकाकीर्ण वन मार्ग में भटकते रहते हैं। जैसे अन्धे को उचित मार्ग से गन्तव्य लक्ष्य पर पहुँचाने वाला मार्गदर्शक अन्धा नहीं होना चाहिए बल्कि दर्शन के सामर्थ्य से युक्त नेत्रवाला व्यक्ति होना चाहिए वैसे ही संसार में भटकने वाले, त्रिविध ताप से संतप्त ज्ञानचक्षु से रहित व्यक्ति को उचित मार्ग से गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने वाला मार्गदर्शक काम्य कर्म में निमग्न नहीं होना चाहिए बल्कि काम्य कर्म से सर्वथा उपरत ब्रह्मदृष्टि वाला होना चाहिए अन्यथा अधोगति निश्चित है।

नास्तिक को यमलोक की प्राप्ति

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।। 6 ।।

अन्वय-

वित्तमोहेन मूढं प्रमाद्यन्तं बालं सांपरायः न प्रतिभाति। अयं लोकः

अस्ति, परः न इति मानी पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते।

अर्थ-

वित्तमोहेन- धन के मोह से **मूढम्**- मोहित **प्रमाद्यन्तम्**- व्यग्रचित्त वाले **बालम्**- मूर्ख को **सांपरायः**- परलोक का साधन **न**- नहीं **प्रतिभाति**- ज्ञात होता है। **अयम्**- यह **लोकः**- लोक **अस्ति**- है **परः**- परलोक **न**- नहीं है। **इति**- ऐसा **मानी**- मानने वाला **पुनः पुनः**- बारम्बार **मे**- मेरे **वशम्**- वश में **आपद्यते**- आता है।

व्याख्या-

भार्या, पुत्र-पौत्र, वाहन तथा धनादि से मोहित होने के कारण जो अशान्तचित्त वाले हो गये हैं, ऐसे अविवेकी को परलोक का साधन समझ में नहीं आता। वह केवल इसी मनुष्य लोक को मानता है, स्वर्ग तथा मोक्ष को नहीं मानता, ऐसा नास्तिक व्यक्ति अपने किए पाप कर्म का भयंकर दुःखरूप परिणाम भोगने के लिए पुनः पुनः यम के पास आता रहता है। श्रेय के साधन ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त होने वाले सर्वोत्कृष्ट होते हैं, उनकी अपेक्षा प्रेय के साधन अविद्या में प्रवृत्त होने वाले निम्न होते हैं किन्तु इस लोक से अतिरिक्त किसी भी लोक को न मानने के कारण शास्त्रीय काम्य कर्म को भी न करके यथेच्छ आचरण करने वाले अत्यन्त निम्न होते हैं। वे बारम्बार नरक में जाकर यम के द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं।

परमात्म तत्त्व का वक्ता, श्रोता और अनुभविता दुर्लभ-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।7

अन्वय-

यः बहुभिः श्रवणाय अपि लभ्यः न, यं शृण्वन्तः अपि बहवः न विद्युः। अस्य कुशलः वक्ता आश्चर्यः कुशलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः, लब्धा।

अर्थ-

यः- जो परमात्मा **बहुभिः**- बहुत लोंगो के द्वारा **श्रवणाय**- सुनने के लिए **अपि**- भी **लभ्यः**- सुलभ **न**- नहीं है (और) **यम्**- जिसे **शृण्वन्तः**- सुनकर **अपि**- भी **बहवः**- बहुत लोग **न**- नहीं **विद्युः**- जानते हैं। **अस्य**- इस परमात्मस्वरूप का **कुशलः**- निपुण **वक्ता**- उपदेशक **आश्चर्यः**- दुर्लभ है। **कुशलानुशिष्टः**- निपुण आचार्य के द्वारा उपदेश को प्राप्त किया हुआ (परमात्मतत्त्व का) **ज्ञाता**- ज्ञाता (भी) **आश्चर्यः**- दुर्लभ है। (और ज्ञाता होकर ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से) **लब्धा**- साक्षात्कार करने वाला दुर्लभ है।

व्याख्या-

परमात्मतत्त्व अधिकांश लोगों को सुनने के लिए भी दुर्लभ है क्योंकि अनेक पूर्व जन्म में अर्जित सुकृतों की लम्बी परम्परा होने से ही तत्त्व कथा श्रवण का सुअवसर प्राप्त होता है। उसे सुनने वाले हजारों लोगों में विरला अधिकारी ही उसे समझ पाता है। वह सुनने के लिए दुर्लभ क्यों है? क्योंकि परमात्मा का कुशलता से प्रतिपादन करने वाला वक्ता दुर्लभ है और ऐसा आचार्य सुलभ होने पर भी उससे शिक्षित ज्ञाता दुर्लभ है तथा परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला तो अत्यन्त दुर्लभ है।

अभी परमात्मतत्त्व के वक्ता, श्रोता और अनुभविता को दुर्लभ कहा, अब दुर्लभ होने में हेतु कहा जाता है-

परमात्मा सामान्य मनुष्य के द्वारा अज्ञेय -

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो[1] बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते[2] गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥8॥

टिप्पणी- 1. सुज्ञेयः इति मध्वसम्मतपाठः।

2. अन्यप्रोक्ते इति पाठान्तरः, तदा अवरनरप्रोक्ते सति आत्मनि अवगतिः नास्ति इत्यर्थः।

अन्वय-

बहुधा चिन्त्यमानः एषः अवरेण नरेण प्रोक्त सुविज्ञेयः न। अनन्यप्रोक्ते अत्र गतिः न अस्ति, हि अणुप्रमाणात् अणीयान्, अतर्क्यम्।

अर्थ-

बहुधा- बहुत प्रकार से **चिन्त्यमानः**- विचार किया जाने वाला **एषः**- परमात्म तत्त्व **अवरेण**- सामान्य **नरेण**- मनुष्य से **प्रोक्तः**- कहे जाने पर **सुविज्ञेयः**- सरलता से ज्ञेय **न**- नहीं है। **अनन्यप्रोक्ते**- अपने से अन्य ब्रह्मदर्शी गुरु के उपदेश न करने पर **अत्र**- परमात्मा के विषय में **गतिः**- ज्ञान **न**- नहीं **अस्ति**- होता है। **हि**- क्योंकि (परमात्मा) **अणुप्रमाणात्**- अणु परिमाण वाले सूक्ष्म पदार्थ से (भी) **अणीयान्**- सूक्ष्म है (इसलिए) वह **अतर्क्यम्**- तर्क का विषय नहीं है।

व्याख्या-

परमात्मा के विषय में वादियों के विभिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। कोई कहता है- परमात्मा है और कोई कहता है- परमात्मा नहीं है। किसी के मत में जीव से अभिन्न है और किसी के मत में जीव से भिन्न। कोई उसे जगत्कर्ता मानता है, कोई जगत्कर्ता नहीं मानता। किसी के मत में निर्विशेष है और किसी के मत में सविशेष इत्यादि रीति से परमात्मा के विषय में वादियों के विभिन्न विचार उपलब्ध होते हैं क्योंकि वह अतिगहन और दुरूह तत्त्व है इसलिए जो केवल पाण्डित्यमात्र प्रयोजन के लिए वेदान्त श्रवण करते हैं, ऐसे परमात्मसाक्षात्कार से रहित, देहात्मबुद्धि वाले सामान्य मानव के द्वारा उपदेश किये जाने पर वह सरलता से नहीं जाना जा सकता है अथवा परमात्मदर्शी कुशल आचार्य के द्वारा उपदेश करने पर भी विषय वासनाओं से वशीभूत मन वाले सामान्य मनुष्य के द्वारा सुविज्ञेय नहीं है। आचार्य के द्वारा उपदेश न करने पर स्वयं परमात्मा के विषय में ज्ञान नहीं होता है अथवा **अनन्यप्रोक्ते**- (परमात्मा के) अनन्य भक्त के द्वारा उपदेश करने पर **अत्र**- परमात्मा के विषय में जो **गतिः**- ज्ञान होता है, वह सामान्य मनुष्य के उपदेश करने पर **न**- नहीं **अस्ति**- होता है अथवा **अनन्यप्रोक्ते**- अनन्य भक्त

के द्वारा उपदेश करने पर **अत्र**- संसार में **गतिः**- भटकना नहीं होता। गुरु के उपदेश के विना परमात्मा को स्वयं क्यों नहीं जान सकते हैं? और सामान्य मनुष्य के उपदेश से क्यों नहीं जान सकते हैं? इनका उत्तर है कि वह अणु परिमाण वाली सूक्ष्म आत्मा से भी अधिक सूक्ष्म है, इसलिए श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश के विना उसे नहीं जान सकते।

शंका- जीवात्मा का अणु परिमाण है और परमात्मा का विभु इस लिए जीवात्मा को ही अणीयान् = अधिक सूक्ष्म कहना चाहिए, परमात्मा को नहीं।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि जीवात्मा का अणु और परमात्मा का विभु परिमाण होने पर भी सबमें प्रविष्ट होकर व्याप्त रहने वाला परमात्मा है- **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।** (तै.ना.उ.94) **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ.3.11.3) सबमें वही प्रवेश करके व्याप्त हो सकता है, जो सबसे सूक्ष्म हो। परमात्मा जीवात्मा में भी प्रवेश करके व्याप्त होकर रहते हैं, इसलिए विभु परमात्मा सूक्ष्म आत्मा से भी सूक्ष्म कहे जाते हैं।

परमात्म तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तर्क का विषय नहीं है। जो इन्द्रियग्राह्य तथा किसी के सजातीय स्थूल वस्तु होती है, उसके विषय में तर्क संभव होता है किन्तु जो अतीन्द्रिय तथा सकलेतरविलक्षण सूक्ष्म तत्त्व है, वह तर्क का विषय नहीं है, गुरु के उपदेश से ही ज्ञेय है।

तर्क से ब्रह्मज्ञान असंभव

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥9॥

अन्वय-

प्रेष्ठ त्वं याम् आपः, एषा मतिः तर्केण आपनेया न, अन्येन

प्रोक्ता एव सुज्ञानाय। नचिकेतः बत सत्यधृतिः असि, त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्।

अर्थ-

प्रेष्ठ- हे प्रियतम! **त्वम्**- तुमने **याम्**- जिस परमात्मविषयक मति को **आपः**- प्राप्त करने का निश्चय किया है, **एषा**- यह **मतिः**- मति **तर्केण**- तर्क से **आपनेयाः**- प्राप्त करने योग्य **न**- नहीं है। **अन्येन**- अपने से अन्य (गुरु) के द्वारा **प्रोक्ता**- उपदिष्ट मति **एव**- ही **सुज्ञानाय**- मोक्ष के साधन ज्ञान के लिए होती है। **नचिकेतः!**- हे नचिकेता (मुझे) **बत**[1]- प्रसन्नता है (कि तुम) **सत्यधृतिः**- अविचलित धैर्य वाले **असि**- हो, (अतः) **त्वादृक्**- तुम्हारे जैसा **प्रष्टा**- प्रश्न करने वाला **नः**- हमारा (शिष्य) **भूयात्**- होवे।

व्याख्या-

प्रियतम शिष्य नचिकेता ने जिस परमात्मज्ञान को आचार्य यम से प्राप्त करने का निश्चय किया है, उसे तर्क से प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए तर्ककुशल होने पर भी गुरु के उपदेश का उल्लंघन कर अपने बुद्धिकौशल से जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु के उपदेश से प्राप्त ब्रह्मज्ञान मोक्ष के साधन के लिए होता है। अपरोक्षात्मक (दर्शन समानाकार) ज्ञान मोक्ष का साधन होता है, उसके लिए गुरु के उपदेश से लब्ध ज्ञान उपयोगी है, अन्य प्रकार से अधिगत ज्ञान तो अविद्या की ही वृद्धि करने वाला होता है। तुमने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अत्यन्त धैर्य धारण कर रखा है और रमणीय वराङ्गनाओं के वर से भी विचलित नहीं हुए, इसलिए मुझे प्रसन्नता हो रही है। जो अविचलित धैर्य वाला शिष्य एकाग्रचित्त से उपदेश को सुनता है और मनन करता है, वही आगे भी प्रश्न पूँछने में समर्थ होता है। नचिकेता कुशलता से प्रश्न करता है, इसलिए गुरुदेव यम नचिकेता जैसा प्रश्न करने वाला शिष्य चाहते हैं, मूक श्रोता जैसा शिष्य नहीं चाहते।

टिप्पणी- 1. 'बत' इति निपातः प्रसन्नतां द्योतयति।

कर्म से ब्रह्मप्राप्ति असंभव

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥10॥

अन्वय-

शेवधिः अनित्यम् हि इति अहं जानामि। हि अध्रुवैः ध्रुवं तत् न प्राप्यते। मया अनित्यैः द्रव्यैः नाचिकेतः अग्निः चितः, ततः नित्यं प्राप्तवान् अस्मि।

अर्थ-

पुण्य कर्मों का फल **शेवधिः**- निधि (इन्द्र और कुबेर आदि देवताओं का ऐश्वर्य) **अनित्यम्**- अनित्य **हि**- ही है। **इति**- इसे **अहम्**- मैं **जानामि**- जानता हूँ। **हि**- क्योंकि **अध्रुवैः**- अनित्य फल के साधन कर्मों से **ध्रुवम्**- नित्य **तत्**- परमात्मा **न**- नहीं **प्राप्यते**- प्राप्त किया जा सकता है। (इसलिए ब्रह्मप्राप्तिरूप नित्य फल के साधन ब्रह्मज्ञान के उद्देश्य से) **मया**- मैंने **अनित्यैः**- अनित्य **द्रव्यैः**- इष्टका आदि पदार्थों से **नाचिकेतः**- नाचिकेत **अग्निः**- अग्नि का **चितः**- चयन किया (और) **ततः**- नाचिकेत अग्नि कर्म के अनुष्ठान से **नित्यम्**- मोक्षात्मक ब्रह्मप्राप्तिरूप नित्य फल के साधन ब्रह्मज्ञान को **प्राप्तवान्**- प्राप्त किया **अस्मि**- हूँ।

व्याख्या-

यमराज कहते हैं कि कर्मों के फल विनाशी हैं, पुण्य कर्मों से प्राप्त इन्द्र और कुबेर आदि देवताओं के भी ऐश्वर्य विनाशी हैं। कर्मों से परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है किन्तु निष्काम कर्मों के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के साधन ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए मैंने अनित्य ईंट और काष्ठ आदि द्रव्य से नाचिकेत-अग्नि का चयन किया और उस के अनुष्ठान से ब्रह्मप्राप्तिरूप नित्य फल के साधन ज्ञान को प्राप्त किया।

नचिकेता की बुद्धिमत्ता

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥11

अन्वय-

नचिकेतः क्रतोः प्रतिष्ठां जगतः कामस्य आप्तिम् आनन्त्यम् अभयस्य पारं स्तोमं महद् उरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या अत्यस्राक्षीः धीरः।

अर्थ-

नचिकेतः- हे नचिकेता (तुमने) **क्रतोः**- यज्ञादि शुभ कर्म का **प्रतिष्ठाम्**- फल **जगतः**- जगत के **कामस्य**- विनाशी पदार्थों की **आप्तिम्**- प्राप्ति को (और परमात्मप्राप्तिरूप मोक्ष में) **आनन्त्यम्**- अविनाशित्व **अभयस्य**- अभय की **पारम्**- पराकाष्ठा को **स्तोमम्**- अपहतपाप्मत्व, सत्यसंकल्पत्वादि महान् गुणों के समूह को **महत्**- श्रेष्ठता को **उरुगायम्**- उत्तमकीर्ति को (तथा) **प्रतिष्ठाम्**- स्थिरता को **दृष्ट्वा**- जानकर (अपनी) **धृत्या**- बुद्धिमत्ता से (विनाशी पदार्थों को) **अत्यस्राक्षीः**- त्याग दिया है (तुम) **धीरः**- सार-असार का विवेचन करने में समर्थ बुद्धिवाले हो।

व्याख्या-

पृथ्वी लोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त विद्यमान सभी विनाशी भोग्य पदार्थ शास्त्रविहित पुण्य कर्मों के फल हैं, नचिकेता ने उन सब का विचार किया। ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष अविनाशी है, अभय की चरमसीमा वाला है, आविर्भूत अपहतपाप्मत्व तथा सत्यसंकल्पत्वादि गुणगण का आश्रय है, श्रेष्ठ है, उत्तमकीर्ति वाला है और स्थिर है, इस प्रकार मोक्ष में विद्यमान अविनाशित्व आदि का विचार करके अपनी बुद्धिमता से सांसारिक भोग्य पदार्थों का त्याग कर दिया। नचिकेता उचित-अनुचित का विवेचन करने में कुशल मेधा से युक्त है अथवा जैसे 100 रुपये प्राप्त होने पर एक रुपया नहीं है, दो रुपए नहीं हैं और 99 रुपये नहीं हैं ऐसा नहीं कहा

जा सकता वैसे ही परमात्मा के प्राप्त होने पर अमुक पदार्थ प्राप्त नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अलग-अलग पदार्थों के अनुभव से जो आनन्द मिलता है, वह सभी आनन्द परमात्मा के अनुभव से मिल जाता है इसलिए इस श्रुति का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है - ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष में **जगतः**- जगत् के **कामस्य**- भोग्य पदार्थों की **आप्तिम्**- प्राप्ति (और) **क्रतोः**- ब्रह्मोपासना के **प्रतिष्ठाम्**- फल **आनन्त्यम्**- अविनाशित्व इत्यादि।

*अब यमराज नचिकेता के द्वारा **येयं प्रेते विचिकित्सा** (क.उ. 1.1.21) इस प्रकार पूँछे गये मोक्षस्वरूप का वर्णन आरम्भ करते हैं-*

भक्तियोग से साध्य मोक्ष-

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥12॥

अन्वय-

धीरः दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं तं देवम् अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा हर्षशौकौ जहाति।

अर्थ-

धीरः- बुद्धिमान् मनुष्य **दुर्दर्शम्**- कठिनता से जानने योग्य **गूढम्**- कर्मरूप अविद्या से तिरोहित **अनुप्रविष्टम्**- सभी में अनुप्रविष्ट **गुहाहितम्**- हृदयरूप गुहा में स्थित **गह्वरेष्ठम्**- आत्माके अन्तर्यामीरूप से स्थित **पुराणम्**- अनादि **तम्**- उस **देवम्**- निरतिशय दीप्तिमान् परमात्मा का **अध्यात्मयोगाधिगमेन**- प्रत्यगात्मा के ज्ञानरूप साधन से **मत्वा**- साक्षात्कार करके **हर्षशोकौ**- हर्ष और शोक को **जहाति**- छोड़ देता है।

व्याख्या-

परमात्मस्वरूप दुर्दर्श है अर्थात् उसे सरलता से नहीं जान सकते।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः। (क.उ.1.2.7) इस मन्त्र से परमात्मा दुर्दश कहा गया। वह दुर्दर्श क्यों है? क्योंकि गूढ है अर्थात् कर्मरूप अविद्या से तिरोहित है। **अविद्या कर्मसंज्ञा** (वि.पु.6.7.61) इस प्रकार विष्णुपुराण में कर्म को अविद्या कहा है। वह जीवात्मा की होती है, उससे जीवात्मा का परमात्मविषयक ज्ञान आवृत रहता है, जिससे वह अविद्या के क्षीण न होने तक परमात्मा को नहीं जान पाता है, उसे जानने के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का अनुष्ठान कठिनाई से होता है, इसलिए वह दुर्दर्श है। जीवात्मा का परमात्मविषयक ज्ञान तिरोहित होने के कारण उपचार से परमात्मा का तिरोहित होना कहा जाता है। परमात्मा जगत् की रचना करके उसमें अनुप्रवेश कर गया- **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तै.उ.2.6.2) इस प्रकार चेतन-अचेतन सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा का अनुप्रविष्ट होना सिद्ध है। उपासना की सुविधा के लिए विभु परमात्मा दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टरूप से उपासक के हृदयरूप गुफा में स्थित होते हैं। जो आत्मा में रहते हुए आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसके प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार का नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति आत्मा में स्थित उसके अन्तर्यामी का निरूपण करती है, परमात्मा पुराण अर्थात् पहले से विद्यमान है, जो वस्तु पहले से विद्यमान रहती है, उसका कोई आदि (कारण) नहीं होता। विषयों से मन को हटाकर आत्मा में लगाने को अध्यात्मयोग कहते हैं- **विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समवधानम् अध्यात्मयोगः।** (प्रका.) इसका **यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः।** (क.उ.1.3.13) तथा **यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।** (क.उ.2.3.10) इत्यादि के द्वारा भगवती श्रुति स्वयं वर्णन करेगी। इस अध्यात्मयोग से जो अधिगम = जीवात्मा का साक्षात्कार होता है, उसे अध्यात्मयोगाधिगम कहते हैं, उस अध्यात्मयोगाधिगम से अर्थात् जीवात्मा के साक्षात्कार रूप साधन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा** इस कथन से परमात्मसाक्षात्कार में

आत्मसाक्षात्कार साधन सिद्ध होता है। कर्मयोग से अन्तःकरण निर्मल होने पर देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा के साक्षात्कार का साधन ज्ञानयोग उपस्थित होता है, उससे अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने पर उसमें अन्तर्यामीरूप से विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिए भक्तियोग प्रवृत्त होता है। श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या आदि शब्दों से भक्तियोग अभिहित होता है। भक्तियोग से परमात्मा का साक्षात्कार होने पर साक्षात्कार करने वाला धीर व्यक्ति अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाले हर्ष को छोड़ देता है और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने से तथा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाले शोक को छोड़ देता है। हर्ष-शोक अर्थात् सुख-दुःख के कारण पुण्य-पापरूप कर्म होते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार से कर्म नष्ट होने पर सुख-दुःख नहीं होते अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

मोक्षस्वरूप का वर्णन

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥13॥

अन्वय-

स: मर्त्यः एतत् श्रुत्वा संपरिगृह्य धर्म्यं प्रवृह्य अणुम् एतम् आप्य मोदनीयं लब्ध्वा मोदते, नचिकेतसं सद्म विवृतं हि मन्ये।

अर्थ-

सः- धीर **मर्त्यः**- मुमुक्षु मनुष्य **एतत्**- आत्मा के अन्तर्यामी परमात्मा का (गुरु के उपदेश से वेदान्तवाक्यों द्वारा) **श्रुत्वा**- श्रवण करके **संपरिगृह्य**- मनन-निदिध्यासन करके (प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने पर) **धर्म्यम्**[1]- कर्म से साध्य शरीर का **प्रवृह्य**- त्याग करके (अर्चिरादि मार्ग से त्रिपादविभूति जाकर) **अणुम्**- अत्यन्त सूक्ष्म **एतम्**- परमात्मा को

टिप्पणी- 1. धर्मशब्दः पुण्यपापरूपकर्ममात्रपरः, तेन कर्मसाध्यं शरीरेन्द्रियादिकं धर्म्यम् इत्युच्यते (आ.भा.)।

आप्य- प्राप्त करके **मोदनीयम्**- आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि से विशिष्ट अपने आत्मस्वरूप को **लब्ध्वा**- प्राप्त करके **मोदते**- परमात्मा का अनुभवरूप आनन्द वाला होता है। (मैं) **नचिकेतसम्**- नचिकेता के लिए **सद्म**- ब्रह्मरूप धाम **विवृतम्**- खुले हुए द्वार वाला अर्थात् प्राप्ति के योग्य **हि**- ही **मन्ये**- मानता हूँ।

व्याख्या-

मुमुक्षु अधिकारी समित्पाणि होकर प्रणिपातादिपूर्वक आचार्य के मुख से परमात्मतत्त्व का श्रवण करके, मनन, निदिध्यासन और दर्शन करके प्रारब्ध कर्म के अवसान काल में देह का त्याग कर देता है। इसके बाद अर्चिरादि मार्ग[1] से अप्राकृत लोक जाकर अति सूक्ष्म परमात्मा को प्राप्त करता है। **अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्** (क.उ.1.2.8) यह कठ श्रुति परमात्मा को अत्यन्त सूक्ष्म कहती है। अप्रकृतधाम में परमात्मा को पाने से आत्मा के अपहतपाप्मत्वादि गुणों का आविर्भाव हो जाता है जो कि बद्धावस्था में तिरोहित हो गये थे। साधक अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक से विशिष्ट अपने मुक्तात्मस्वरूप को प्राप्त करके परमात्मा का अनुभवरूप परमानन्द वाला होता है। पूर्व में 1.1.21 की व्याख्या में इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। ब्रह्मवेत्ता सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके अपहतपाप्मत्वादि, सत्यसंकल्पत्व तथा दया, वात्सल्य आदि सभी कल्याणगुणों का अनुभव करता है - **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।** (तै.उ.2. 1.2) प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणों से विशिष्ट आत्मा का ब्रह्मानुभव करना ही मोक्ष है। प्रिय (प्रीतिरूप) वस्तु का ज्ञान प्रीतिरूप होता है। परमात्मा निरतिशय प्रीतिरूप हैं इसलिए उसका अनुभव भी निरतिशय प्रीतिरूप या आनन्दरूप होता है। परमात्मा आनन्दरूप ही है, जिसे पाकर जीवात्मा आनन्द का अनुभव करने वाला ही होता है - **रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।** (तै.उ.2.7.1) यह अनुभव ही मोक्ष है। इस प्रकार यमराज नचिकेता को अभीष्ट वर देकर उसकी मोक्षयोग्यता को कहते हैं- मैं नचिकेता में ब्रह्मरूपधाम प्राप्त

टिप्पणी- 1. अर्चिरादि मार्ग को विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विवेचन ग्रन्थ के जीवात्म विवेचन प्रकारण में देखना चाहिए।

करने की योग्यता मानता हूँ। **येयं प्रेते** (क.उ.1.1.21) इस मन्त्र को देहेन्द्रियादि से भिन्न आत्मविषयक मानने पर यहाँ 1.2.13 से परमात्मविषयक उत्तर संभव नहीं होगा। अतः वहाँ मुक्तावस्थाविषयक ही प्रश्न है। उपनिषदों के अनुसार मुक्तावस्था में जीवात्मा अपने अन्तरात्मा ब्रह्म का अनुभव करती है।

*नचिकेता **मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** (क.उ.1.2.12) इस प्रकार सामान्यरूप से निर्दिष्ट उपाय उपासना को, **देवम्** (क.उ.1.2.12) इस प्रकार सामान्यरूप से निर्दिष्ट उपेय (प्राप्य) परमात्मा को और **अध्यात्मयोगाधिगमेन** (क.उ.1.2.12) इस प्रकार सामान्यरूप से निर्दिष्ट उपेता (प्राप्ता) प्रत्यगात्मा को ठीक से समझने के लिए पुनः प्रश्न करता है –*

उपाय, उपेय और उपेता सम्बन्धी प्रश्न

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद् वद॥ 14 ॥

अन्वय–

धर्माद् अन्यत्र अधर्माद् अन्यत्र यत् पश्यसि, तद् वद। अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र च भूतात् भव्यात् च अन्यत्र तद्।

अर्थ–

तुम **धर्माद्** – धर्म से **अन्यत्र**– अन्य (और) **अधर्माद्**– अधर्म से **अन्यत्र**– अन्य **यत्**– जिस उपाय को **पश्यसि**– जानते हो। **तद्**– उसे **वद**– कहो **अस्मात्**– इस **कृताकृतात्**– कार्य और कारण से **अन्यत्र**– अन्य **च**– तथा **भूतात्**– भूतकाल में विद्यमान पदार्थों से **भव्यात्**– भविष्यत् काल में होने वाले पदार्थों से **च**– और वर्तमान काल के पदार्थों से **अन्यत्र**– अन्य जिसे जानते हों, **तद्**– उसे कहिए।।

व्याख्या-

लोक में स्वर्ग आदि अभीष्ट फल के उपाय यज्ञ, तप और दानादि धर्म प्रसिद्ध हैं। इनसे विलक्षण है- परमात्मा की प्राप्ति का उपाय। नरक आदि अनिष्ट फल के उपाय चोरी, हिंसा आदि अधर्म प्रसिद्ध हैं। परमात्मा की प्राप्ति का उपाय इनसे भी विलक्षण है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्** से परमात्मप्राप्ति का उपाय पूँछा जाता है। घट, पटादि कार्य हैं और उनके कारण मिट्‌टी, तन्तु आदि हैं, इन लोकप्रसिद्ध कार्य और कारण से विलक्षण उपेय है तथा वह भूत, वर्तमान और भविष्य काल में वर्तमान पदार्थों से भी विलक्षण (तीन कालों में रहने वाला) है। **अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च...** .... इस प्रकार कार्य-कारण से विलक्षण तथा कालपरिच्छेद[1] वाले पदार्थों से विलक्षण उपेय को जानने के लिए प्रश्न किया जा रहा है। यहाँ उपेता (परमात्मा की प्राप्ति करने वाला) का प्रश्न क्यों नहीं किया गया? ऐसी आशंका अनुचित है क्योंकि उपेयस्वरूप के अन्तर्गत उपेता का स्वरूप भी है इसलिए उपेयसम्बन्धी प्रश्न से उपेता का भी प्रश्न हो गया। साधक मुक्तावस्था में जिस रूप से विद्यमान होकर उपेय का अनुभव करता है, वह उपेता का स्वरूप है। इस प्रकार नचिकेता उपाय, उपेय और उपेता इन तीनों को जानने की इच्छा व्यक्त करता है।

नचिकेता के प्रश्न करने पर मृत्यु देवता उपेय परमात्मा में श्रद्धा कराने के लिए उसके वैभव का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं -

प्राप्य परमात्मा और उसका वैभव

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।।5।

....

टिप्पणी- 1. जो पदार्थ एक काल में रहता है, दूसरे काल में नहीं रहता, वह कालपरिच्छेद वाला होता है, उत्पन्न होने वाले और विनष्ट होने वाले सभी पदार्थ कालपरिच्छेद वाले होते हैं।

अन्वय-

सर्वे वेदाः यद् पदम् आमनन्ति, यत् सर्वाणि तपांसि वदन्ति। च यद् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पदं ते सङ्ग्रहेण ब्रवीमि, ओम इति एतद्।

अर्थ-

सर्वे- सम्पूर्ण **वेदाः**- वेद **यत्**- जिस **पदम्**[1]- प्राप्य परमात्मा का **आमनन्ति**- प्रतिपादन करते हैं। (वे) **यत्**- जिसके उद्देश्य से **सर्वाणि**- सभी **तपांसि**- तपों को **वदन्ति**- कहते हैं। **च**- और **यद्**- जिसकी **इच्छन्तः**- इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन **ब्रह्मचर्यम्**- ब्रह्मचर्य का **चरन्ति**- पालन करते हैं, **तत्**- उस **पदम्**- पद को **ते**- तुम्हारे लिए **सङ्ग्रहेण**- संक्षेप से **ब्रवीमि**- कहता हूँ। **ओम्**- ओम् **इति**- यह **एतद्**- पद है।

व्याख्या-

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आ.श्रौ.सू.) इस वचन के अनुसार संहिता और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व भेद से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के चार विभाग होते हैं। समग्र वेद प्राप्य परमात्मा का निरूपण करते हैं- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** (गी.15.15) ऐसा गीता में भी कहा है। वेद परमात्मा की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के तप का वर्णन करते हैं। वेदोक्त रीति से कृच्छ्र चान्द्रायणादि के द्वारा जो शरीर को सुखाना है, उसे तप कहते हैं - **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः॥** (जा.उ.2.3) शास्त्रविहित भोगों को भी कम करना तप कहलाता है - **शास्त्रीयो भोगसंकोचः तपः** (ता. चं.16.1) शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों को सहन करना तप है- **तपो द्वन्द्वसहनम्।** (यो.सू.व्या.भा.2.32)। तप अन्तःकरण की निर्मलता के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति में हेतु होते हैं। जिसका ज्ञानरूप तप है- **यस्य ज्ञानमयं तपः।** (मु.उ.1.1.10) इस श्रुति के अनुसार तप का अर्थ होता है- ज्ञान। तब प्रस्तुत श्रुति में आए **तपांसि** पद से ज्ञान की प्रधानता वाले

टिप्पणी- 1. पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदम्।

उपनिषद् भाग का ग्रहण होता है और ऐसा होने पर **सर्वे वेदाः** से वेदों के कर्मकाण्ड भाग का ग्रहण होता है। वेद का उत्तर भाग (उपनिषत्) साक्षात् परमात्मा का प्रतिपादन करता है और पूर्व भाग (कर्मकाण्ड) इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा उनके अन्तरान्ता परमात्मा का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों का प्रतिपाद्य परमात्मा ही है। वेदों के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत आरण्यक हैं। उनका अरण्य में निवास करने वाले तप की प्रधानता वाले ऋषिगण अध्ययन करते थे। उनका भी **तपांसि** पद से ग्रहण कर सकते हैं। तपः शब्द तप की प्रधानता वाले ऋषियों का भी बोधक होता है। मानवजीवन का प्रधान लक्ष्य परमात्मा का ज्ञान ही है, उस (परमात्मज्ञान) की इच्छा से ही ब्रह्मचारी गण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्म का अर्थ है - वेद, उसके अध्ययन के लिए किया जाने वाला व्रत भी ब्रह्म कहलाता है, उस व्रत का आचरण करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं- **ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म तच्चरतीति ब्रह्मचारी।** (सि.कौ.स.) वेद का वाचक ब्रह्म शब्द लक्षणावृत्ति से अध्ययन के नियम का बोधक है। गुरुकुलवास, अष्टविध मैथुन का अभाव इत्यादि ब्रह्मचर्य कहलाते हैं। 1. स्त्रियों का चिन्तन करना, 2. उनसे रागपूर्वक बातें करना, 3. उनके साथ हास-परिहास करना, 4. उनको रागपूर्वक देखना, 5. उनसे एकान्त में बात करना, 6. मैथुन का संकल्प करना, 7. उसका निश्चय करना और 8. मैथुन करना। ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने कहे हैं। उन सभी को न करना ब्रह्मचर्य है- **मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यं तदष्टधा। स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।** (अ.पु.372.9-10) स्त्रियों में भोग्यत्वबुद्धि रखकर उनका दर्शन आदि न करना ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्।** (गी.रा.भा.17.14) स्त्रियों में भोग्यत्वबुद्धि का त्याग ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं च योषित्सु भोग्यताबुद्धिवर्जनम्** (ता.चं. 6.14)

वस्तुतः प्रस्तुत कठश्रुति में पठित ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सभी आचरणों का बोधक है- **ब्रह्मप्राप्त्यर्थाचरणं ब्रह्मचर्यम्।** इस प्रकार मुमुक्षु का ज्ञानप्राप्त्यर्थं गुरु के समीप जाना भी

ब्रह्मचर्य है। मुमुक्षु ब्रह्म को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाए- **तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** (मु.उ.1.2.12) यमराज नचिकेता के लिए उस प्राप्य परमात्मा को संक्षेप से कहते हैं कि ॐ यह प्राप्य परमात्मा है। **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**(गी.8.13), **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध : स्मृतः।**(गी. 17.23) **तस्य वाचकः प्रणवः**(यो.सू. 1.27) इत्यादि शास्त्र वाक्य परमात्मा का बोधक[1] ओम् शब्द को कहते हैं। '**ओम्**' प्राप्य परमात्मस्वरूप का वाचक है अतः श्रुति उसे '**ओम्**' कहती है। परमात्मा के वाचक ओम् शब्द के अवयव अकार और मकार से क्रमशः परमात्मा और जीवात्मा कहे जाते हैं।

पूर्व में ब्रह्म के अभिधानरूप से वर्णित 'ओम्' शब्द की महिमा को अब कहते हैं -

प्रणव की महिमा

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ 16 ॥

अन्वय-

हि एतद् अक्षरम् एव ब्रह्म। हि एतद् अक्षरम् एव परम्। हि एतद् अक्षरम् एव ज्ञात्वा यः यद् इच्छति तस्य तत्।

अर्थ-

हि- प्रसिद्ध **एतद्**- ओम् **अक्षरम्**- अक्षर (शब्द) **एव**- ही **ब्रह्म**- ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। **हि**- प्रसिद्ध **एतद्**- ओम् **अक्षरम्**- अक्षर **एव**- ही (जपने योग्य मन्त्रों में) **परम्**- श्रेष्ठ है। **हि**- प्रसिद्ध **एतद्**-

---

टिप्पणी- 1. ओम् आदि शब्द शक्तिवृत्ति से ही परमात्मा के बोधक हैं, इस विषय को 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ में ब्रह्मविवेचन के अन्तर्गत वाच्यत्व, वेद्यत्व प्रकरण में देखना चाहिए।

ओम् **अक्षरम्**- अक्षर की **एव**- ही **ज्ञात्वा**- उपासना करके **यः**- जो उपासक **यद्**- जिस फल को **इच्छति**- चाहता है। **तस्य**- उस उपासक को **तत्**- वह फल प्राप्त होता है।

व्याख्या-

अ + उ + म् = ओम्। इसमें अ, उ और म ये तीन वर्ण होते हैं। इन तीनों से निष्पन्न हुआ 'ओम्' एक अक्षर है। व्यञ्जनसहितस्वर को, अनुस्वारसहित स्वर को अथवा केवल स्वर को अक्षर कहते हैं- **सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वाऽपि स्वरोऽक्षरम्।** (ऋ.प्र.18.32) परमात्मा का ओम् नाम वेदों में प्रसिद्ध है, इसे ही प्रणव कहते हैं।

शंका- कठोपनिषत् 1.2.15 में आया ओम् शब्द है, परमात्मा अर्थ है। ओम् शब्द परमात्मा का वाचक है, परमात्मा वाच्य है। ओम् शब्द का कण्ठ आदि स्थानों से उच्चारण होता है, अर्थ का उच्चारण नहीं होता, ओम् शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, विभु परमात्मा का विशुद्ध मन से प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार वाचक ओम् शब्द और वाच्य परमात्मा भिन्न ही होते हैं तो ओम् शब्द (अक्षर) को ब्रह्म क्यों कहा जाता है?

समाधान- ओम् के जप से उस (ओम् शब्द) के अर्थ (ब्रह्म) के ध्यानद्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति के साध न ध्यान का आलम्बन ओम् शब्द होता है इसलिए ओम् शब्द को ब्रह्म कहा जाता है। प्रणव सभी जपनीय मन्त्रों में श्रेष्ठ है- **प्रणवः सर्ववेदेषु** (गी.7.8) ऐसा श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है, इसकी महिमा सर्वाधिक है। प्रणव कामधेनु के समान है, इसलिए इसकी उपासना से प्रणवोपासक जिस फल की कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है।

प्रणव आलम्बन से की जाने वाली उपासना श्रेष्ठ

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ 17 ॥

अन्वय-

एतद् आलम्बनं श्रेष्ठम्, एतदालम्बनं परम्। एतद् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।

अर्थ-

ध्यान के लिए **एतद्**- ओंकाररूप **आलम्बनम्**- आलम्बन **श्रेष्ठम्**- श्रेष्ठ है। (इसलिए) **एतदालम्बनम्**- ओंकाररूप आलम्बन वाला ध्यान **परम्**- श्रेष्ठ है। परमपुरुष के ध्यान में **एतद्**- ओंकाररूप **आलम्बनम्**- आलम्बन को **ज्ञात्वा**- जानकर **ब्रह्मलोके**- परब्रह्म के लोक में **महीयते**- सम्मानित होता है।

व्याख्या-

ध्यान (उपासना) के आश्रय (आलम्बन) बनने वाले अनेक मन्त्र हैं, उन में ओंकार श्रेष्ठ है इसलिए ओंकार को आश्रय बनाकर किया जाने वाला ध्यान अन्य सभी ध्यानों से श्रेष्ठ है। ओम् इस अक्षर से ही परम पुरुष का ध्यान करना चाहिए- **ओम् इत्येतेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीत।**(प्र.उ.5.5) यह श्रुति प्रणवरूप आलम्बन से परमात्मा के ध्यान का विधान करती है। परमपुरुष की उपासना में प्रणवरूप आलम्बन को जानकर उपासक उपासना से प्राप्य तत्त्व का साक्षात्कार करके ब्रह्मलोक में मुक्तों से सम्मानित होता है और परमात्मा का प्रीतिपात्र होता है।

इस प्रकार यमराज ब्रह्मोपासना के आलम्बन ओंकार की महिमा का वर्णन करके उपासक प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

प्रत्यगात्मा का स्वरूप

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।18।।

अन्वय-

विपश्चिद् अयं न जायते वा न म्रियते। कश्चित् कुतश्चिद् न बभूव। अयम् अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः। शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

अर्थ-

विपश्चिद्- सर्वज्ञ होने के योग्य **अयम्**- आत्मा **न जायते**- उत्पन्न नहीं होती है। **वा**- और **न**- नहीं **म्रियते**- मरती है। **कश्चित्**- कोई आत्मा **कुतश्चित्**- किसी कारण से (पूर्वकाल में भी) **न बभूव**- उत्पन्न नहीं हुई। **अयम्**- यह आत्मा **अजः**- अजन्मा है। **नित्यः**- नित्य है, **शाश्वतः**- सदा रहने वाली (और) **पुराणः**- प्राचीन (पहले से विद्यमान) है। **शरीरे हन्यमाने**- शरीर के मारे जाने पर (भी आत्मा) **न**- नहीं **हन्यते**- मारी जाती है।

व्याख्या-

विपश्चित्[1] का सर्वज्ञ अर्थ होता है। परमात्मा सदा सर्वज्ञ रहता है। प्रत्यगात्मा मुक्तावस्था में सर्वज्ञ रहता है किन्तु बद्धावस्था में उसके ध र्मभूतज्ञान का अनादि कर्मरूप अज्ञान से संकोच होने के कारण अल्पज्ञ हो जाता है। ब्रह्मज्ञान से संकोच का हेतु प्रतिबन्धक अज्ञान निवृत्त हो जाता है। तब मुक्तावस्था में उसकी स्वाभाविक सर्वज्ञता आविर्भूत हो जाती है। बद्धावस्था में भी प्रत्यगात्मा में सर्वज्ञ होने की योग्यता रहती है। यह आत्मा उत्पन्न नहीं होती और मरती भी नहीं। यह देह धारणकाल में भी उत्पत्ति और विनाश से रहित है। उत्पत्ति और विनाश देह के होते हैं, आत्मा के नहीं होते।

शंका- यदि आत्मा की उत्पत्ति (जन्म) और विनाश (मृत्यु) नहीं होते तो **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।** (तै.उ.3.1.2) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की उत्पत्ति और नाश का वर्णन कैसे करती हैं?

टिप्पणी- 1. विशेषं पश्यति, विप्रकृष्टं चेतति चिनोति चिन्तयति वा। पृषोदरादित्वात् साधुः।

समाधान– प्रस्तुत कठ श्रुति आत्मा की स्वरूपतः उत्पत्ति और नाश का निषेध करती है। कर्मरूप अविद्या उपाधि के कारण उसका नूतन देह के साथ जो संयोगरूप जन्म होता है तथा प्राचीन देह का वियोगरूप जो मृत्यु होती है, आत्मा के वे जन्म और मृत्यु औपाधिक हैं। उपाधि के होने पर इनका चक्र चलता रहता है। श्रुति इनका निषेध नहीं करती। इन्हीं औपाधिक जन्म और मृत्यु का **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादि श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं। आत्मा पहले नहीं थी, अब हो गयी, इस प्रकार शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति मानना अनुचित है। आत्मा पहले थी, अभी है और आगे भी रहेगी।

जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका विनाश होता है। प्रत्यगात्मा उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उसका विनाश भी नहीं होता। यदि आत्मा अभी उत्पन्न नहीं होती तो क्या पूर्वकाल में उत्पन्न हुई थी? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है– **कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्** अर्थात् वह पूर्वकाल में भी किसी से उत्पन्न नहीं हुई। आत्मा स्वरूपतः उत्पन्न नहीं होती और देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से भी उत्पन्न नहीं होती। देवत्व, मनुष्यत्व आदि शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा की उत्पत्ति का **न जायते** से निषेध किया जाता है और उसकी उत्पत्ति के कारण का **कुतश्चिद् न** से निषेध किया जाता है। आत्मा की उत्पत्ति क्यों नहीं होती, इसका उत्तर है– **अजः।** वह अजन्मा है, अजन्मा वस्तु का जन्म अर्थात् उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा की मृत्यु क्यों नहीं होती? इसका उत्तर है– **नित्यः।** वह नित्य है, इसलिए उसकी मृत्यु नहीं होती। आत्मा किसी उत्पादक से क्यों उत्पन्न नहीं होती? क्योंकि वह **शाश्वतः**– सदा रहने वाली है। आत्मा पूर्वकाल में उत्पन्न क्यों नहीं हुई? क्योंकि वह **पुराणः** अर्थात् पहले से विद्यमान है। शस्त्र आदि से शरीर को मारा जा सकता है, आत्मा को नहीं क्योंकि शस्त्रादि स्थूल वस्तु में प्रवेश करके उसका विनाश कर सकते हैं, आत्मा तो अति सूक्ष्म निरवयव वस्तु है, उसमें शस्त्रादि का प्रवेश ही संभव न होने से 'शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा नही मारी जाती'– **न हन्यते हन्यमाने शरीरे** यह वचन संभव होता है। इस श्रुति के अभिप्राय को श्रीमद्भगवद्गीता भी व्यक्त करती है– **न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो**

नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥(गी.2.20)

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ 19॥

अन्वय-

चेत् हन्ता हन्तुं मन्यते, चेत् हतः हतं मन्यते। तौ उभौ न विजानीतः, अयं न हन्ति, न हन्यते।

अर्थ-

चेत्- यदि (कोई) **हन्ता**- हत्यारा (अपने को) **हन्तुम्**[1]- मारने (आत्मा का वध करने) वाला **मन्यते**- मानता है। (और) **चेत्**- यदि **हतः**- मारा जाने वाला व्यक्ति (अपने को) **हतम्**- मारा गया **मन्यते**- मानता है (तो) **तौ**- वे **उभौ**- दोनों **न**- नहीं **विजानीतः**- जानते हैं (क्योंकि) **अयम्**- आत्मा (किसी को) **न**- नहीं **हन्ति**- मारती है (और) **न**- न (ही किसी से) **हन्यते**- मारी जाती है।

व्याख्या-

यदि देहात्मबुद्धि से युक्त कोई हननकर्ता ऐसा समझता है कि मैंने इस आत्मा को मारा, इस (आत्मा) को मार रहा हूँ और इस (आत्मा) को मारूँगा तथा जिसको मारा जाता है, यदि वह ऐसा समझे कि आत्मा मारी गयी तो वे दोनों ही आत्मा के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जानते हैं। शत्रु से मरने (प्राणवियोग) की संभावना होने पर वह मुझे (आत्मस्वरूप को) मारेगा और किसी के द्वारा शरीर के अङ्ग नष्ट किये जाने पर मैं नष्ट हो गया, ऐसा देहात्मबुद्धि वाले मानते हैं। वास्तव में आत्मा न तो किसी को मारती है और न ही किसी से मारी जाती है इसलिए जो आत्मा को मारने वाली और मारी जाने वाली मानते हैं, वे अत्यन्त अज्ञानी हैं। इस मन्त्र के द्वारा आत्मा में हनन क्रिया के कर्तृत्व और हनन क्रिया के

टिप्पणी- 1. हन्तुमिति पदम् उदन्तद्वितीयान्तम् सेतुम्, जन्तुम् इतिवत्। हन्तारम् इत्यर्थः। (श्रु.प्र.2.3.33)

कर्मत्व का निषेध किया जाता है।

पूर्वोक्त दो मन्त्रों से प्रत्यगात्मा के स्वरूप को समझाकर अब उसमें आत्मारूप से स्थित परमात्मस्वरूप को कहते हैं -

परमात्मस्वरूप और उसके साक्षात्कार का फल

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु[1]प्रसादान्महिमानमात्मनः। 20।

अन्वय-

अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा अस्य जन्तोः गुहायां निहितः। अक्रतुः धातुप्रसादात् आत्मनः महिमानं तं पश्यति, वीतशोकः।

अर्थ-

अणोः- सूक्ष्म से **अणीयान्**- सूक्ष्म (और) **महतः**- महान् से **महीयान्**- महान् **आत्मा**- परमात्मा **अस्य**- इस **जन्तोः**- प्रत्यगात्मा के **गुहायाम्**- हृदयरूप गुहा में **निहितः**- स्थित है। जब **अक्रतुः**- काम्यकर्म न करने वाला मुमुक्षु **धातुप्रसादात्**- जगत् को धारण करने वाले परमात्मा के अनुग्रह से (अपने) **आत्मनः**- प्रत्यगात्मस्वरूप के **महिमानम्**- अपहतपाप्मत्वादि गुणों का और सर्वज्ञता का आविर्भावरूप महिमा को करने वाले **तम्**- परमात्मा का **पश्यति**- साक्षात्कार करता है (तब) **वीतशोकः**- शोकरहित हो जाता है।

व्याख्या-

परमात्मा व्यापक है, वह व्यापक होने पर भी निरतिशय सूक्ष्म है। परमात्मा का अणु परिमाण होने से **अणोरणीयान्** यह श्रुति परमात्मा को **अणीयान्**- अत्यन्त अणु नहीं कहती है बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म होने

टिप्पणी- 1. 'धातुः प्रसादाद्' इति पाठान्तरः।

से कहती है। यदि श्रुति केवल **महतो महीयान्** ही कहती तो अत्यन्त महान् (बड़ा) होने से परमात्मा के स्थूलत्व की शंका होती, उसके निवारण के लिए श्रुति अणोरणीयान् (सूक्ष्म से सूक्ष्म) कहती है। यदि केवल अणोरणीयान् ही कहा जाता तो अणु होने के कारण सबमें व्याप्त होकर न रहने की शंका होती, इसके निवारण के लिए श्रुति **महतो महीयान्** भी कहती है। वह निरतिशय सूक्ष्म होने से सूक्ष्म आत्मा में भी व्याप्त होकर रहता है और निरतिशय महान् होने से महान् आकाशादि को भी व्याप्त करके रहता है। परमात्मा से सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है, उससे महान् भी कोई नहीं है इसीलिए छान्दोग्यश्रुति कहती है कि मेरे (जीवात्मा के) हृदय के अन्दर रहने वाला यह परमात्मा धान से, जौ से, सरसों से, साँवा से और साँवा के चावल से भी अतिशय सूक्ष्म है। मेरे हृदय के भीतर रहने वाला यह परमात्मा पृथ्वी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, स्वर्ग लोक से बड़ा है और इन सभी लोकों से बड़ा है– **एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा सर्षपाद् वा श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा। एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥** (छां.उ.3. 14.3) उपासना की सुविधा के लिए अन्तरात्मा भगवान् अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले विग्रह से युक्त होकर सदा जीवात्माओं के हृदय में रहता है– **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।** (क.उ.2.3.17) हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में रहता है – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** (गी.18.61) सकाम कर्म करने से अन्तःकरण अशुद्ध होता है, अतः मुमुक्षु उसे नहीं करता, वह अन्तःकरण की निर्मलता के लिए निष्काम कर्म करता है। परमात्मा और उनकी महिमा का साक्षात्कार उनके अनुग्रह से ही होता है। यह परमात्मा ही जिस उपासक का वरण करता है, वही उसका साक्षात्कार करता है– **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** (क.उ.1.2.23)। भगवान् अनुग्रह के पात्र का वरण करके उसके लिए प्रत्यक्ष हो जाते हैं। मुक्तावस्था में जीव की स्वाभाविकी सर्वज्ञता को और अपहतपाप्मत्वादि गुणों को आविर्भूत करना परमात्मा की महिमा है, अघटितघटनासामर्थ्य उनकी महिमा है, अणु से अणु होना और महान् से महान् होना उनकी महिमा

है। इतना ही नहीं, उनकी सम्पूर्ण विशेषताएं महिमा ही हैं। मुमुक्षु महिमा के सहित परमात्मा का साक्षात्कार करता है और शोक से रहित हो जाता है। प्रस्तुत श्रुति सविशेष परमात्मा के साक्षात्कार से ही शोकनिवृत्तिरूप मोक्ष का प्रतिपादन करती है। जब मनुष्य चमड़े के समान आकाश को शिर में लपेट लेंगे, तब परमात्मा के साक्षात्कार के विना शोक का नाश हो जाएगा– **यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखास्यान्तो भविष्यन्ति॥** (श्वे.उ.6.20) अर्थात् परमात्मदर्शन से अतिरिक्त शोकनिवृत्ति का कोई उपाय नहीं है।

*ऊपर **अणोरणीयान्** इत्यादि प्रकार से परमात्मा के आश्चर्य को कहकर उनके अनुग्रह से साक्षात्कार कहा गया, अब कुछ अन्य आश्चर्यों को कहकर भगवदनुग्रहशून्य व्यक्ति के लिए उनका दुर्ज्ञेयत्व कहा जाता है* –

अनुग्रहरहित व्यक्ति के लिए परमात्मा दुर्बोध–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ 21 ॥

अन्वय–

आसीनः दूरं व्रजति। शयानः सर्वतः याति। मदामदं तं देवं मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति।

अर्थ–

परमात्मा (एक स्थान में) **आसीनः**– स्थित (बैठा) होने पर भी **दूरम्**– दूर **व्रजति**– जाता है। (और) **शयानः**– शयन करने पर भी **सर्वतः**– सभी स्थानों में **याति**– जाता है। **मदामदम्**[1]– हर्ष और अहर्ष से युक्त **तम्**– उस **देवम्**– परमात्मा को **मदन्यः**– भगवदनुग्रह प्राप्त मेरे जैसे ज्ञानी से भिन्न **कः**– कौन **ज्ञातुम्**– जानने में **अर्हति**– समर्थ हो

टिप्पणी– **1.** मदः हर्षः, अमदः अहर्षः मदश्चामदश्च मदामदौ यस्य सः मदामदः। अर्श आद्यजन्तः।

सकता है।

व्याख्या-

परमात्मा व्यापक है, वह सभी स्थानों में समानरूप से रहता है किन्तु एक स्थान में स्थित होना और दूर जाना ये विरुद्ध धर्म हैं, वे परमात्मा में कैसे रह सकते हैं? सर्वात्मा ब्रह्म सबके अन्दर प्रवेश करके शासन करने वाला है- **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ. 3. 11.3)। परमात्मा आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन (शासन) करता है- **य आत्मानमन्तरो यमयति** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि श्रुतियों से सभी में प्रवेश करके नियमन करने वाले अन्तर्यामी परमात्मा कहे जाते हैं। एक जीव जब एक स्थान पर बैठता है, तब दूसरा जीव दूर जाता है। जीव एक स्थान में बैठते समय कहीं भी नहीं जा सकता है किन्तु जब एक जीव एक स्थान पर बैठा हो, उस समय दूसरा जीव दूर जाता है, इस प्रकार एक स्थान पर बैठना और दूर जाना ये कार्य जीवों के हैं, वे जीवों के द्वारा उनके अन्तरात्मा परमात्मा के होते हैं, अथवा सर्वत्र व्यापक[1] परमात्मा एक स्थान पर भी स्थित होते हैं, तेज दौड़ने वाला व्यक्ति चाहे जितनी दूर जाए, वहाँ परमात्मा पहले से ही विद्यमान होते हैं इसलिए श्रुति कहती है- **आसीनो दूरं व्रजति।** इस अभिप्राय को ईशावास्य श्रुति **तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्।**(ई.उ.4) इन शब्दों से कहती है अथवा शुद्ध अन्तःकरण वाले भक्त के लिए समीप स्थित है और पापी मूढ को ज्ञात न होने से उससे दूर जाता है, ऐसा भी उक्त कठवाक्य का अर्थ होता है अथवा हृदयस्थ परमात्मा का ध्यान करने वाले का कदाचिद् ध्यान भंग होने पर वैसा कहा जाता है। शयन करने वाला व्यक्ति शयनकाल में हिल भी नहीं सकता तो सब ओर कैसे जा सकता है? एक जीव जब एक स्थान पर सोता है, तब अन्य जीव सब ओर जाते ही हैं, इस प्रकार सोना और सब स्थानों पर जाना जीवों के कार्य हैं, वे जीव के द्वारा उनके अन्तरात्मा परमात्मा के कहे जाते हैं

टिप्पणी- 1. कुछ लोग कहते हैं कि व्यापक परमात्मा एक स्थान पर नहीं रह सकता है, उनका यह कथन निराधार है क्योंकि यदि एक स्थान पर नहीं रह सकता तो व्यापक भी नहीं हो सकता। सर्वत्र रहने वाली वस्तु एक स्थान पर भी रहती है।

अथवा शयानः का अर्थ है– अचल। परमात्मा व्यापक होने से अचल ही है फिर भी व्यक्ति जिस किसी दिशामें जाए, वहाँ परमात्मा पहले से विद्यमान रहते हैं इसलिए श्रुति कहती है– **शयानो याति सर्वतः** अथवा विग्रहविशिष्ट परमात्मा अपने धाम में अचल होने पर भी भक्तों पर आए संकट को दूर करके आनन्दप्रदान करने के लिए दूसरे विग्रह को धारण करके सभी स्थानों में जाते हैं, यह भी उक्त वाक्य का अर्थ है। यहाँ परमात्मा को स्वरूपतः अचल होने पर तथा विग्रहविशिष्टरूप से एक स्थान पर अचल रहकर भी दूसरे विग्रह को धारण करके सर्वत्र जाना कहा जाता है।

मदामद का अर्थ होता है– हर्ष और अहर्ष वाला अर्थात् प्रसन्नता और अप्रसन्नता वाला। शास्त्रीय मर्यादा का आचरण करने वाले पर भगवान् का हर्ष और विपरीत आचरण करने वाले पर अहर्ष होता है, ऐसे परमात्मा को उससे अनुगृहीत मुझ जैसे ज्ञानी से अन्य कौन जान सकता है? अर्थात् भगवदनुग्रह प्राप्त यमदेवता जैसा कोई विरला ब्रह्मवेत्ता महापुरुष ही उनको यथार्थरूप से जानता है। श्रुति तथाकथित ज्ञानियों का **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** (क.उ.1.2.5) इस प्रकार वर्णन करती है और ब्रह्मज्ञ पुरुष की दुर्लभता को **आश्चर्यो ज्ञाता** (क.उ.1.2.7) इस प्रकार कहती है।

पूर्व में परमात्मस्वरूप को कहकर और अनुग्रहशून्य साधक के लिए उसकी दुर्बोधता को कहकर अब मोक्ष के उपाय को कहते हैं–

मोक्ष का उपाय

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ 22॥

अन्वय–

अनवस्थेषु शरीरेषु अवस्थितम् अशरीरं विभुं महान्तम् आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति।

अर्थ-

अनवस्थेषु- अनित्य **शरीरेषु**- शरीरों में **अवस्थितम्**- स्थित **अशरीरम्**- शरीररहित **विभुम्**- वैभवशाली **महान्तम्**- महान **आत्मानम्**- परमात्मा का **मत्वा**- साक्षात्कार (साक्षात्कारात्मक उपासना) करके **धीरः**- भगवदनुग्रहप्राप्त ब्रह्मोपासक **न शोचति**- शोक नहीं करता है।

व्याख्या-

दृश्यमान शरीर अनित्य हैं। इनमें जीवात्मा के साथ परमात्मा भी विद्यमान है। समान गुणवाले, साथ रहने वाले, पक्षी के समान जीव और ईश्वर वृक्ष के समान छेदनयोग्य एक शरीर में रहते हैं, उनमें जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता है और परमात्मा कर्मफल को न भोगते हुए प्रकाशित होता रहता है- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति॥** (ऋ.सं.2.3. 17, मु.उ.3.1.1) यह श्रुति अनित्य शरीर में नित्य परमात्मा की स्थिति का प्रतिपादन करति है। अनित्य शरीर में रहने वाले परमात्मा कैसे हैं? श्रुति इस प्रश्न का उत्तर देती है- अशरीरम्। यहाँ अशरीरम् पद का अर्थ सर्वथा शरीररहित नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा का पृथ्वी शरीर है'- **यस्य पृथिवी शरीरम्** (बृ.उ.3.7.7) परमात्मा का आत्मा शरीर है - **यस्यात्मा शरीरम्** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषत् के अन्तर्यामी ब्राह्मण की श्रुतियाँ चेतन-अचेतन सभी पदार्थों को परमात्मा का शरीर कहती हैं। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में 'सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है'- **जगत्सर्वं शरीरं ते** (वा.रा.6.117.25) अतः प्रस्तुत कठमन्त्र में आए अशरीरम् पद का अर्थ कर्मजन्य शरीर से रहित है। संसारी जीव के शरीर उसके कर्म से जन्य होते हैं, परमात्मा का पाप-पुण्यरूप कोई कर्म होता ही नहीं, अतः सभी शरीर परमात्मा के होने पर भी उनके कर्म से जन्य नहीं हैं। यहाँ केवल अनित्य अचेतन शरीरों का प्रसङ्ग है। भगवान् चेतनाचेतन सभी के अन्तर्यामी हैं, अतः अनित्य शरीरों में भी अन्तर्यामीरूप से स्थित रहते हैं। श्रीभगवान् से अनुगृहीत उपासक उनका साक्षात्कार करके सभी दुःखों से रहित हो जाता है। सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसका उपाय है- भक्तिरूपापन्न

दर्शनसमानाकार ज्ञान, जो कि मत्वा पद से कहा गया है।

पूर्व मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का उपाय कहा गया, अब अन्यत्र प्रसिद्ध श्रवण, मनन और निदिध्यासन के मोक्षोपायत्व का निषेध करके परमात्मा को उपाय कहते है-

परमात्मा ही उपाय और उपेय

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते[1] तनूं स्वाम् ॥23॥

अन्वय-

अयम् आत्मा बहुना श्रुतेन न लभ्यः, प्रवचनेन न, मेधया न। एषः एव यं वृणुते, तेन लभ्यः? तस्य एषः आत्मा स्वां तनूं विवृणुते।

अर्थ-

अयम्- यह **आत्मा**- परमात्मा **बहुना**- बहुत **श्रुतेन**- श्रवण से **न लभ्यः**- प्राप्त होने योग्य नहीं है। **प्रवचनेन न**- मनन से प्राप्त नहीं होता (और) **मेधया न**- निदिध्यासन से(भी) प्राप्त नहीं हो सकता। **एषः**- यह परमात्मा **एव**- ही **यम्**- जिसका **वृणुते**- वरण करता है **तेन**- उसके द्वारा **लभ्यः**- प्राप्य होता है। **तस्य**- उस के लिए **एषः**- यह **आत्मा**- परमात्मा **स्वाम्**- अपने **तनूम्**- स्वरूप को **विवृणुते**- प्रकट कर देता है।

व्याख्या-

उक्त श्रुति में श्रुत शब्द से श्रवण का ग्रहण होता है। इस के साथ एक ही वाक्य में उच्चरित होने से प्रवचन शब्द का अर्थ मनन होता है। प्रवचन शब्द का मुख्यार्थ अध्यापन है। मनन के विना कुशलता से

टिप्पणी- 1.'वृणुते' इति पाठान्तरः।

अध्यापन (प्रवचन) नहीं होता। यहाँ प्रवचन शब्द लक्षणा से प्रवचन के साधन मनन का बोधक है अथवा **प्रोच्यतेऽनेन** इस प्रकार करण में प्रत्यय करने पर प्रवचन शब्द शक्तिवृत्ति से ही मनन को कहता है। मेधा शब्द निदिध्यासन को कहता है।

यह परमात्मा बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता, बहुत मनन से प्राप्त नहीं होता और निदिध्यासन से भी प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार (परमात्मप्राप्ति में) श्रवणादि के उपाय होने का निषेध किया जाता है तो परमात्मा किसके द्वारा प्राप्य है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** यह परमात्मा ही जिसका वरण करते हैं, उसके द्वारा प्राप्त होते हैं। वे किसका वरण करते हैं? प्रियतम वस्तु का ही वरण किया जाता है, प्रियतम कौन है? परमात्मा से निरतिशय प्रीति करने वाला ज्ञानी भक्त। वह प्रियतम कैसे होता है? परमात्मा से प्रीति (प्रेम) करने पर उनका प्रियतम हो जाता है। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है– **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।** (गी.7.17) उपासक की परमात्मा में जो प्रीति होती है, उससे परमात्मा की उपासक में प्रीति हो जाती है। उस से वह परमात्मा का प्रिय हो जाता है, परमात्मा प्रिय होने पर उसका वरण कर लेते हैं और वरणीय के लिए सुलभ हो जाते हैं। जो परमात्मा से निरतिशय प्रेम करता है, उनके साक्षात्कार के विना अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और जीवनधारण करना भी संभव नहीं मानता। परमात्मा भी उसके विरह को सहन नहीं कर पाते और वे प्राप्य बनने के लिए उसका वरण कर लेते हैं और उसके लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता के उपेय (प्राप्य) परमात्मा अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय भी बन जाते हैं।

शंका– परमात्मा श्रवण, मनन और निदिध्यासन से प्राप्त नहीं होता तो श्रवणादि साधन व्यर्थ होते हैं।

समाधान– ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि 'परमात्मा श्रवणादि से प्राप्त

नहीं होता।' यह श्रुति कहती है किन्तु वह उनको व्यर्थ नहीं कहती। यह ऊपर कहा जा चुका है कि परमात्मा जिसका वरण कहते हैं, उसको ही प्राप्त होते हैं। प्रियतम का ही वरण किया जाता है, परमात्मा में प्रीति रखने वाला ब्रह्मवेत्ता ही उसका प्रियतम होकर वरणीय हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि प्रीति से रहित श्रवणादि उपाय नहीं हैं। मुमुक्षु श्रवण, मनन के पश्चात् निदिध्यासन करता है। तेल की धारा के समान कभी न टूटने वाले परमात्मचिन्तन के प्रवाह को निदिध्यासन[1] कहते हैं। अभ्यास करते करते जब वह प्रीतिरूप हो जाता है, तब परमात्मा उसका वरण कर लेते हैं। प्रीतिरूपता को प्राप्त हुआ परमात्मा का निरन्तर स्मरण ही भक्ति कहलाता है। उत्तम साधक प्रीति से श्रवण, प्रीति से मनन और प्रीति से निदिध्यासन करता है। प्रीति की विभिन्न अवस्थाएं होती हैं। उत्तरोत्तर सतत् अभ्यास से दृढ प्रीतिरूप निदिध्यासन होने पर साधक जब उनका वरणीय हो जाता है, तब वे उसे अपना साक्षात्कार प्रदान करते हैं। इस विवरण से सिद्ध होता है कि वरणीय होने की योग्यता (भगवान् में प्रीति) के लिए वे साधन अपेक्षित होते हैं, उनके विना योग्यता ही नही आ सकती, अतः वे साधन व्यर्थ नही हैं। प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ज्ञान ही उनका साक्षात्कार है। मुझमें निरन्तर लगकर भजन करने वालों को मैं उस बुद्धियोग (प्रीतिरूपान्न दर्शनसमानाकार ज्ञान) को प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं- **तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥** (गी.10.10) इस प्रकार श्रीभगवान् ने स्वयं अपनी प्राप्ति के साधन साक्षात्कार को प्रदान करने की बात कही है। उपासना परमात्मप्राप्ति में अनुग्रहकर्ता परमात्मा के द्वारा उपाय होती है और परमात्मा साक्षात् उपाय होते हैं।

अब परमात्मप्राप्ति का उपाय उपासना के कुछ अङ्गों का उपदेश किया जाता है -

---

टिप्पणी- 1. ज्ञान, दर्शन ब्रह्मविद्या, निदिध्यासन, ध्यान और स्मरण से सभी पर्याय हैं। इस विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में भक्ति योग प्रकरण पढ़ना चाहिए।

उपासना के अङ्ग

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ 24 ॥

अन्वय-

दुश्चरिताद् अविरतः अपि प्रज्ञानेन एनं न आप्नुयात्, अशान्तः न, असमाहितः न, वा अशान्तमानसः न।

अर्थ-

दुःचरिताद्- पाप कर्म से **अविरतः**- निवृत्त न होने वाला मनुष्य **अपि**- मुमुक्षु होने पर भी **प्रज्ञानेन**- उपासना से **एनम्**- परमात्मा को **न**- नहीं **आप्नुयाद्**- प्रप्त कर सकता है। **अशान्तः**- अशान्त काम-क्रोध के वेग वाला (उपासना से परमात्मा को) **न**- नहीं प्राप्त कर सकता है। **असमाहितः**- नाना प्रकार के कार्यो से विक्षेप के कारण व्यग्रचित्त वाला (मुमुक्षु होने पर भी उपासना से परमात्मा को) **न**- नहीं प्राप्त कर सकता है। **वा**- और **अशान्तमानसः**- असंयमित मन वाला (मुमुक्षु होने पर भी उपासना से परमात्मा को) **न**- नहीं प्राप्त कर सकता है।

व्याख्या-

शास्त्रों में परमात्मप्राप्ति के उपायरूप से उपासना (प्रज्ञान या ब्रह्मविद्या) सुनी जाती है। चोरी, अपहरण, हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों को न छोड़ने वाला, अशान्त काम-क्रोध के वेग वाला, विभिन्न कार्यों से विक्षेप के कारण चंचल चित्त वाला और मनको एकाग्र न करने वाला मनुष्य मुमुक्षु होने पर भी उपासना को निष्पन्न नहीं कर सकता। वे सभी उपासना के विघ्न हैं। निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, काम-क्रोध के वेगों की शान्ति, चित्त की व्यग्रता का अभाव और मन का संयमित होना ये सभी उपासना के अङ्ग (साधन) हैं। इन्हें ईशावास्योपनिषत् के 12 वें मन्त्र में 'असम्भूति पद, से 13 वें मन्त्र में' असम्भव पद से और 14वें मन्त्र में विनाश पद से कहा जाता है। इनके आचरण से उपासना के प्रतिबन्धक कर्मों की निवृत्ति होने से प्रीतिरूपापन्नदर्शनसमानाकार उपासना की

निष्पत्ति होती है, अतः उपासक के लिए वे भी अनुष्ठेय हैं। उपासना की निष्पत्ति के प्रतिबन्धक अनादि काल से संचित पुण्य-पापरूप कर्म हैं, उनकी निवृत्ति में उक्त अङ्गों का उपयोग है।

संहारकर्ता परमात्मा

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ 25 ॥

॥ इति द्वितीया वल्ली ॥

अन्वय-

ब्रह्म च क्षत्रं च उभे यस्य ओदनः भवतः। मृत्युः यस्य उपसेचनम्, सः यत्र, इत्था कः वेद।

अर्थ-

ब्रह्म- ब्राह्मण **च**- और **क्षत्रम्**- क्षत्रिय **उभे**- दोनों **यस्य**- जिस परमात्मा के **ओदनः**- भात **भवतः**- होते हैं। **मृत्युः**- मृत्यु **यस्य**- जिसका **उपसेचनम्**- उपसेचन है, **सः**- वह परमात्मा **यत्र**- जिस प्रकार स्थित है अर्थात् जिस प्रकार वाला है, उस प्रकार को **इत्था**- इत्थम् (ऐसा), इस रीति से **कः**- कौन **वेद**- जान सकता है।

व्याख्या-

ब्राह्मण और क्षत्रिय के वाचक ब्रह्म और छत्र पद सम्पूर्ण चराचर जगत् के उपलक्षण[1] हैं। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का भात है और मृत्यु उपसेचन है। जो पदार्थ स्वयं भक्ष्य होते हुए दूसरे पदार्थ के भक्षण का साधन होता है, उसे उपसेचन कहते हैं- **स्वयमद्यमानत्वे सति इतरादनसहकारित्वम् उपसेचनत्वम्।** जैसे - शाक,दाल, चटनी, दही

टिप्पणी- 1. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम्।

आदि। जगत् परमात्मा का भात है और उसके साथ मिलाकर खाया जाने वाला उपसेचन मृत्यु है। जैसे लोग दही, शाक आदि से भात खाते हुए दही, शाक आदि को भी खाते हैं, वैसे ही परमात्मा मृत्यु से चराचर जगत् का संहार करते हुए अन्त में मृत्यु का भी संहार कर देते हैं। भगवान् सदा मृत्यु के द्वारा व्यष्टिसंहार करते रहते हैं और कल्प के अन्त में मृत्युद्वारा समष्टिसंहार करते हुए मृत्यु का भी संहार कर देते हैं। परमात्मा के अनन्त प्रकार (विशेषताएं) हैं, उनमें प्रत्येक प्रकार अपरिछिन्न है। अतः वे जिस प्रकार वाले हैं, उसे ऐसा है, इस प्रकार परिच्छिन्नत्वेन (सीमितरूप से) कोई नहीं जान सकता है। जैसे परमात्मस्वरूप अपरिच्छिन्न है, वैसे ही उनके सामर्थ्य आदि प्रकार भी अपरिच्छिन्न हैं।

द्वितीय वल्ली की व्याख्या समाप्त

तृतीया वल्ली

पूर्व वल्ली में ***क इत्था यत्र वेद सः*** *(क.उ.1.2.25) इस प्रकार परमात्माका ज्ञान दुष्कर कहा गया। इससे ''परमात्मा को न जानने से हम उसकी उपासना नहीं कर सकेंगे तो हमारा कल्याण कैसे होगा।'' ऐसा समझकर कोई मुमुक्षु निराश न हो इसलिए उपास्य परमात्मा और उपासक जीवात्मा की एक स्थान में स्थिति होने से परमात्मा सुगमता से उपास्य है अतः हम सभी उसकी उपासना कर सकते हैं, इस विषय को कहते हैं-*

जीव और ब्रह्म की एक स्थान में स्थिति

हरिः ओम्॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे पराद्धर्ये[1]।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥1॥

टिप्पणी- 1. परार्धे इति पाठान्तरः।

अन्वय-

त्रिणाचिकेताः च पञ्चाग्नयः ये ब्रह्मविदः सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परार्द्धर्ये परमे ऋतं पिबन्तौ छायातपौ वदन्ति।

अर्थ-

त्रिणाचिकेताः- अयं वाव यः पवते। (तै.ब्रा. 3.11.7) इत्यादि तीन अनुवाकों के अनुष्ठान से शुद्धान्तःकरणवाले **च**- और **पञ्चाग्नयः**- गार्हपत्य आदि पाँच अग्नियों की परिचर्या से शुद्ध अन्तःकरण वाले (होकर) **ये**- जो **ब्रह्मविदः**- ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले हैं, (वे)**सुकृतस्य**- पुण्य का फल **लोके**- मनुष्य शरीर में **गुहां**- हृदय गुहा में **प्रविष्टौ**- प्रविष्ट होकर **परार्द्धर्ये**[1]- उत्तम स्थान **परमे**[2]- हृदयाकाश में विराजमान होकर **ऋतम्**- कर्मफल को **पिबन्तौ**- भोगने वाले **छायापतौ**- जीव और ब्रह्म को **वदन्ति**- कहते हैं।

व्याख्या-

त्रिणाचिकेत की व्याख्या कठमन्त्र 1.1.17 में की जा चुकी है। **पञ्चाग्नि**- 1. गार्हपत्याग्नि, 2. दक्षिणाग्नि, 3. आहवनीयाग्नि, 4. सभ्याग्नि और 5. आवसथ्याग्नि।

1. गार्हपत्याग्नि- यह गृहस्थ के घर में सदा प्रज्वलित रहती है। गार्हपत्य अग्नि में पत्नीसंयाज होम को करता है- **गार्हपत्ये पत्नीसंयाजान् जुहोति**। इस वाक्य से पत्नीसंयाज होम का अनुवाद करके गार्हपत्य अग्नि का विधान किया जाता है।

2. दक्षिणाग्नि- इसमें याग के लिए उपयोगी चरु को पकाया जाता है। दक्षिणाग्नि में अन्वाहार्य को पकाने से इसे अन्वाहार्यपचन भी कहते हैं। अनु - याग के पश्चात् चार ऋत्विक् को भोजन के लिए दिया जाने वाला आहार्य - भात अन्वाहार्य कहलाता है।

टिप्पणी- 1. परार्धम् अर्हति इति परार्द्धयम्। लब्धुं योग्यो भवतीति अर्हतेरर्थः। तदर्हति (अ.सू.5.1.63) इत्यनेन सूत्रेण परार्धमिति द्वितीयान्ताद् यत् प्रत्ययः भवति। उत्कृष्ट स्थानम् इत्यर्थः। 2. परमाकाशे।

3. आहवनीयाग्नि- वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय अग्नि का आधान करे, शरद में वैश्य अग्नि का आधान करे- **वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः।** इस वाक्य से विहित आधान के पश्चात् उक्त तीनों अग्नियों से साध्य कर्म में अधिकार होता है। इनमें मूल गार्हपत्य अग्नि है। इसी से अन्य दो को लिया जाता है। आहवनीयाग्नि में अग्निहोत्र होम किया जाता है।

4. सभ्याग्नि- सभा अर्थात् गृह के मध्य में विद्यमान अग्नि सभ्याग्नि कहलाती है- **सभ्यः नाम अग्निः, सभायां गृहे मध्ये भवः।** शीतनिवारण आदि के लिए सभ्य अग्नि अनेक स्थानों में रखी जाती है - **शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते।** (म.स्मृ.म.मु.3.185)

5. आवस्थ्याग्निः- आवसथ अर्थात् घर में होने वाली अग्नि आवसथ्याग्नि कहलाती है - **आवसथे गृहे भवः आवसथ्यः गृह्याग्निः।** इसमें पाक किया जाता है। इस प्रकार कही गयी पञ्चाग्नियों में सभ्य और आवसथ्य ये दो लौकिक अग्नि हैं।

कर्मफलभोग के आश्रय शरीर को लोक कहते हैं- **लोक्यत अनुभूयते कर्मफलं यस्मिन् सः लोकः शरीरम्।** छायातपौ इस प्रकार छाया शब्द से जीवात्मा लक्षित होता है और आतप शब्द से परमात्मा लक्षित होता है। मानव शरीर को प्राप्त करके मुमुक्षु अनादिकाल से चली आ रही जन्म-मृत्यु की शृंखला को सदा के लिए नष्ट कर सकता है। मोक्ष का साधन यह शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, पापकर्म प्रबल रहते इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए इसे सुकृत का फल कहा जाता है। यद्यपि परमात्मा अन्तर्यामीरूप से सभी प्राणियों के हृदय गुहा में प्रविष्ट हैं फिर भी मानवशरीर से उपासना सुगम होने के कारण लोक का अर्थ मनुष्यशरीर किया गया है। संसारसागर से पार जाने का साधन नरशरीर सुकृतविशेष से उपलब्ध होता है, ईश्वर उसमें उपास्यरूप से सन्निहित ही रहते हैं। चराचर सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश करने वाले परमात्मा शरीर के

हृदयरूप गुहा में जीव के साथ प्रविष्ट होते हैं। हृदय में स्थित आकाश बाह्य–आकाश की अपेक्षा परम अर्थात् उत्तम है। परमात्मा हृदय गुहा में प्रविष्ट होकर उत्तम स्थान हृदयाकाश में जीवात्मा के साथ विराजमान होते हैं। एक ही स्थान में दोनों के रहने से अपने आराध्य प्रिय परमात्मा को दूर खोजने की आवश्यकता नहीं होती अपितु सन्निहित होने से उपासना में सुविधा होती है। हृदयाकाश में रहने वाले वे दोनों किस प्रकार रहते हैं? श्रुति कहती है – **ऋतं पिबन्तौ** ऋत का अर्थ होता है – सत्य। कर्मफल अवश्यंभावी होने से ऋत कहा गया है। कर्मफल भोगते हुए दोनों रहते हैं।

प्रश्न– पुण्य–पाप कर्मों का कर्ता जीव होता है, परमात्मा नहीं तो कर्मफल का भोक्ता भी जीवात्मा ही होगा। परमात्मा के पुण्यपापरूप कर्म न होने से वह कर्मफल का भोक्ता भी नहीं होगा तो पिबन्तौ इस प्रकार द्विवचन के प्रयोग से दोनों को कर्मफल का भोक्ता क्यों कहा?

उत्तर– 1. परमात्मा का कर्मफलभोक्तृत्व न होने पर भी छत्रिन्याय[1] से उसे कर्मफल भोगने वाला कहते हैं। जिस प्रकार सपरिवार और सपरिकर राजा के जाने पर ''छत्रधारी जाते हैं'' – **छत्रिणो यान्ति**। ऐसा व्यवहार होता है। छत्रधारी केवल राजा होता है, दूसरा नहीं, फिर भी छातावाले राजा के साथ अन्य का सम्बन्ध होने से छत्रधारी और उससे भिन्न दोनों अर्थों का बोधक **''छत्रिणो यान्ति''** यह वाक्यप्रयोग संभव होता है, उसी प्रकार केवल जीवात्मा का कर्मफलभोक्तृत्व होता है, परमात्मा का नहीं, फिर भी कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से परमात्मा को भी कर्मफल भोगने वाला कहते हैं इसलिए **ऋतं पिबन्तौ** यहाँ द्विवचन संभव होता है। अथवा 2. कर्मफल भोगने में प्रयोज्य कर्ता जीव और प्रयोजक कर्ता परमात्मा है अतः कर्मफल भोगने में दोनों का कर्तृत्व है इसलिए पिबन्तौ इस प्रकार दोनों को कर्मफल भोगने वाला कहते हैं। जैसे पिता अपने पुत्र को पढने के लिए

टिप्पणी– 1. छत्रिन्याय से ग्राह्य अर्थ लक्षणा से संभव होता है।

विद्यालय भेजता है, शुल्क आदि देता है, उसे अध्यापक पढ़ाता है, फिर भी कहा जाता है कि पिता अपने पुत्र को विद्यालय में पढ़ाता है, अध्यापक पाठन क्रिया का प्रयोज्य कर्ता है, पिता प्रयोजक कर्ता है फिर भी अध्यापक के पढ़ाने पर पिता का पढ़ाना कहा जाता है, वैसे ही जीव के कर्मफल भोगने पर परमात्मा का भी कर्मफल भोग कहा जाता है अथवा 3. सुकृतस्य लोके यहाँ जीव पक्ष में सुकृत का अर्थ पुण्य कर्म होता है और परमात्म पक्ष में संकल्परूप कर्म। जीवात्मा का शरीर उस के पुण्य कर्मों से जन्य है और परमात्मा के संकल्प से। जीवात्मा पुण्यपापरूप कर्म का फल सुख, दु:ख भोगते हुए शरीर में रहता है और परमात्मा संकल्पात्मक कर्म का फल लीला रस का अनुभव करते हुए शरीर में रहता है। जीवात्मा अज्ञ है अत: श्रुति उसे छाया शब्द से कहती है और परमात्मा सर्वज्ञ है अत: श्रुति उसे आतप शब्द से कहती है। सुकृत के फल मानव शरीर के अन्तर्गत हृदय में प्रविष्ट होकर उत्कृष्ट स्थान में विराजमान होकर ऋत का अनुभव करने वाले जीवात्मा और ब्रह्म को त्रिणाचिकेत के अनुष्ठान से और पञ्चाग्नि की शुश्रुषा से निर्मल अन्त:करण वाले होकर ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन निदिध्यासन में प्रवृत्त होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले कहते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार के विना कोई भी उक्त रीति से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकता, अत: पञ्चाग्नय: और त्रिणाचिकेता: पद ब्रह्मविद् के विशेषण हैं, उनका स्वतन्त्ररूप से वदन्ति क्रिया के साथ अन्वय नहीं होता।

महर्षि वेदव्यास ने **गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्** (ब्र. सू.1.2.11) इस सूत्र में ऋतं पिबन्तौ इस मन्त्र को जीवात्मा और परमात्मा का प्रतिपादक कहा है। वहाँ संशय होता है कि उक्त मन्त्र में आये **गुहां प्रविष्टौ** से बुद्धि और जीव का निर्देश किया गया है? अथवा जीवात्मा और परमात्मा का निर्देश किया गया है? इन दोनों पक्षों में कौन उचित है? पूर्व पक्षी का कथन है कि बुद्धि और जीव को ग्रहण करने वाला प्रथम पक्ष उचित है क्योंकि पुण्यपाप से रहित परमात्मा का कर्मफलभोक्तृत्व संभव नहीं है तथा जीव के सुकृत से साध्य शरीरगत अल्प स्थान हृदय गुहा में व्यापक परमात्मा का रहना भी संभव नहीं। जीव का कर्मफलभोक्तृत्व प्रसिद्ध है। कर्मफलभोग का करण बुद्धि में

कर्तृत्व के उपचार से बुद्धि को भी कर्मफल का भोक्ता कहा जा सकता है और इन दोनों का हृदय गुहा में रहना भी संभव होता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर **गुहां प्रविष्टावात्मानौ** (ब्र.सू.1.2.11) यह सूत्र उपस्थित होता है। इसके अनुसार जीव और ब्रह्म को ग्रहण करने वाला द्वितीय पक्ष ही उचित है। जैसे देवदत्त के द्वितीय साथी (जोड़ा) को लाओ, ऐसा कहने पर उसके सजातीय मित्र को ही लाया जाता है, अश्व या गर्दभ को नहीं। वैसे ही ऋतं पिबन्तौ यहाँ द्वित्व संख्या सुनी जाने से जीवात्मा के सजातीय चेतन परमात्मा का ही ग्रहण संभव है, अचेतन बुद्धि का नहीं, यह पूर्व में कहा गया है कि परमात्मा का कर्मफलभोक्तृत्व न होने पर भी छत्रिन्याय से अथवा प्रयोजक कर्तृत्व होने से परमात्मा को कर्मफल का भोक्ता कहना संभव होता है। अचेतन बुद्धि में स्वतन्त्र कर्तृत्व और प्रयोजक कर्तृत्व दोनों ही न होने से उसे **ऋतं पिबन्तौ** इस प्रकार कर्मफल का भोक्ता कहना संभव नहीं है। इसी कठोपनिषत् में **गुहाहितं गह्वरेष्ठम्** (क.उ.1.2.12) तथा **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥** (क.उ.2.1.12) इस प्रकार व्यापक परमात्मा की हृदय गुहा में स्थिति कही गयी है। जो एक देश में नहीं रह सकता है, वह व्यापक भी नहीं हो सकता। जो व्यापक है, वह सर्वत्र रहने से एक देश में भी रहता है।

*पूर्व में **ऋतं पिबन्तौ** इस प्रकार वर्णित परमात्मा के प्रयोजक कर्तृत्व को स्पष्ट करते हुए उसकी उपासना को सुगम बताते हैं –*

ब्रह्म की उपासना सरल

यस्सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥2॥

अन्वय–

यः ईजानानां सेतुः, यत् अक्षरं परं ब्रह्म। तितीर्षताम् अभयं पारं

नाचिकेतं शकेमहि।

अर्थ-

यः- जो परमात्मा **ईजानानाम्**- यज्ञ करने वालों का **सेतुः**- आधार अर्थात् फलप्रदाता है। **यत्**- जो **अक्षरम्**- निर्विकार **परम्**- पर **ब्रह्म**- ब्रह्म है और जो संसार सागर को **तितीर्षताम्**- पार करने के इच्छुक जनों का **अभयम्**- भयरहित अर्थात् दृढ़ **पारम्**- तीर है। हम **नाचिकेतम्**- नाचिकेत- अग्नि कर्म से (ब्रह्मोपासन द्वारा) प्राप्य उस ब्रह्म की उपासना करने में **शकेमहि**- समर्थ हैं।

व्याख्या-

यज्ञकर्मी का बोधक ईजानानाम् पद ज्ञानी और उपासक का भी उपलक्षक है। परमात्मा यज्ञादि कर्म करने वाले का आधार अर्थात् फल प्रदाता है। सकाम कर्म करने वालों को स्वर्ग, पुत्र, धन आदि अभीष्ट फल प्रदान करने वाला है और निष्कामकर्मियों को ब्रह्मोपासना में उपयोगी अन्तःकरण की निर्मलतारूप फल प्रदान करने वाला है, ज्ञानियों को ज्ञान का फल ब्रह्मात्मक आत्मा का साक्षात्कार देने वाला है और ब्रह्मोपासकों को उपासना का फल ब्रह्मसाक्षात्कार प्रदान करने वाला है। इस प्रकार **यस्सेतुरीजानानाम्** से यह ज्ञात होता है कि पूर्वमन्त्र में वर्णित परमात्मा का प्रयोजककर्तृत्व सर्वकर्मफलप्रदत्वरूप है। क्षर का अर्थ क्षरण या विकार होता है, उससे रहित निर्विकार ब्रह्म है। वह पर अर्थात् श्रेष्ठ है, उससे पर कुछ भी नहीं है। वह संसार समुद्र से पार जाने के इच्छुक जनों का दृढ़ आश्रय है। नाचिकेत अग्निकर्म से (ब्रह्मविद्याद्वारा) प्राप्य उस परमात्मा की उपासना हम कर सकते हैं। अतः उसकी उपासना कठिन है, ऐसा समझकर निराश नहीं होना चाहिए।

अभी परमात्मप्राप्ति का साधन उपासना सुगम कही गयी और अब परमात्मप्राप्ति में (उपासना के निष्पादक) अन्य सहायकों का उपदेश किया जाता है -

परमात्मप्राप्ति में सहायक

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च[1]।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥3॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥4॥

अन्वय-

आत्मानं रथिनं विद्धि च शरीरं रथम् एव। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि च मनः एव प्रग्रहम्। मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् आहुः, तेषु विषयान् गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता इति आहुः।

अर्थ-

शरीर के अधिष्ठाता **आत्मानम्**- जीवात्मा को **रथिनम्**- रथी **विद्धि**- जानो **च**- और **शरीरम्**- शरीर को **रथम्**- रथ **एव**- ही जानो। **बुद्धिम्**- बुद्धि को **तु**- तो **सारथिम्**- सारथी **विद्धि**- जानो **च**- और **मनः**- मन को **एव**- ही **प्रग्रहम्**- लगाम जानो। **मनीषिणः**- विद्वान् पुरुष **इन्द्रियाणि**- इन्द्रियों को **हयान्**- घोड़े **आहुः**- कहते हैं। **तेषु**- इन्द्रियों की घोड़ों से उपमा होने पर **विषयान्**- शब्दादि विषयों को **गोचरान्**- मार्ग कहते हैं और **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्**- देह, इन्द्रिय तथा मन से युक्त जीवात्मा को **भोक्ता**- भोक्ता **इति**- ऐसा **आहुः**- कहते हैं।

व्याख्या-

शरीर का अधिष्ठाता जो जीवात्मा है, उसे रथी अर्थात् रथ का स्वामी जानना चाहिए। शरीर उसके कर्मों से प्राप्त होता है इसलिए वह शरीररूप रथ का स्वामी है। शरीर को रथ समझना चाहिए। जैसे रथ में स्थित पुरुष का एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का साधन रथ होता

टिप्पणी- 1. अत्र 'तु' इति पाठान्तरः

है, वैसे ही शरीर में स्थित आत्मा के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त करने का साधन शरीर होता है, इसलिए शरीर की रथ से उपमा दी गयी है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इन दशों इन्द्रियों को घोड़ा जानना चाहिए। जैसे घोड़े रथ को मार्ग में खींचकर दूसरे स्थान पर ले जाते हैं, वैसे इन्द्रियाँ शरीर को विषयों में खींचकर भोग और अपवर्ग में ले जाती हैं इसलिए इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है। सारथी के बिना घोड़े ऐसे स्थान पर रथ को लेकर चले जाते हैं, जो रथी को इष्ट नहीं होता अतः एक कुशल सारथी की आवश्यकता होती है। शरीररूप रथ में बैठे रथी जीवात्मा को अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाली बुद्धि होती है। बुद्धि का अर्थ है- अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान। इसके होने पर शरीररूप रथ के इन्द्रियरूप घोड़े ठीक से चलते हैं इसलिए बुद्धि को सारथी जानना चाहिए। यद्यपि मन इन्द्रियों को विषयों की ओर ले जाता है, फिर भी बुद्धि की ही प्रबलता होती है इसलिए वही सारथी है। सारथी लगाम से अश्वों का नियन्त्रण करता है। बुद्धि मन से अन्य इन्द्रियों का नियन्त्रण करती है। इसलिए मन को लगाम कहा गया है। जैसे निग्रहीत लगाम से अश्व वश में रहते हैं, वैसे ही निग्रहीत मन से इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। जैसे घोड़े मार्ग में संचरण करते हैं, वैसे ही दशों इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में संचरण करती हैं, उनको छोड़ना ही नहीं चाहतीं।

जीव अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण दयालु परमात्मा से बिछुड़ कर अनादि काल से क्षणिक विषयसुख के अन्वेषण में भटकता रहता है। वह सुख समझकर जिस वस्तु को चाहता है, उसी से सतत् धोखा खाता रहता है। पर आश्चर्य यह है कि उसे छोड़कर परमात्मप्राप्ति के पारमार्थिक पथ पर अग्रसर नहीं होना चाहता। वह जब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक उसे शाश्वत सुख-शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती। शोक और मोह से युक्त जीव की दयनीय दशा को देखकर भगवान् ने उसे मानवदेहरूप सर्वसाधनसम्पन्न रथ प्रदान करके, इन्द्रियरूप घोड़े, उनकी मनरूप लगाम तथा बुद्धिरूप

सारथी दिया। रथी जीवात्मा चाहे इनके द्वारा शब्दादि भोग्य विषयों का आलम्बन लेकर उनको भोगकर देवदुर्लभ नर शरीर को गँवा दे अथवा भगवान् के नाम, उनका श्रीविग्रह, उनकी लीला, उनका धाम और स्वरूप का आलम्बन लेकर उनका साक्षात्कार करके मनुष्य शरीर को सार्थक कर ले।

रथ, सारथी, घोड़े और लगाम से जिनकी उपमा कही गयी है, उन शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय और मन के न होने पर रथीरूप से कहा गया उदासीन आत्मा लौकिक और वैदिक कर्मों का कर्ता नहीं है, इस विषय को कहते हैं - **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्.....**। यहाँ आत्मा शब्द का देह अर्थ है और मन शब्द बुद्धि का भी उपलक्षक है क्योंकि पूर्वमन्त्र में बुद्धि का सारथीरूप से निर्देश किया गया है। भोक्ताशब्द कर्ता का भी उपलक्षक है। देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के सहित आत्मा कर्ता, भोक्ता होती है। इनके न होने पर कर्ता, भोक्ता नहीं होती। देहादि के होने पर ही आत्मा सभी प्रकार के कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता होती है। वे फल चाहे इस लोक में भोगे जाएं या स्वर्ग में। मोक्ष की साध ना भी देहादि के होने पर ही होती है और जीवनकाल में परमात्मानुभव भी होता है।

देहादि के न होने पर आत्मा न तो कर्म कर सकती है और न ही उनके फल सुख-दुःख का अनुभव (भोग) कर सकती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के साथ स्वाभाविकरूप से ज्ञाता (अनुभविता) भी है, इसलिए मुक्तावस्था में देहादि का अभाव होने पर भी ब्रह्म का अनुभव करती रहती है किन्तु सुख दुःख को नहीं भोग सकती। प्राकृत देहादि की प्राप्ति के हेतु पुण्य-पापरूप कर्म होते हैं, मोक्षकाल में उनका अभाव होने पर प्राकृत देहादि की ही प्राप्ति नहीं होती इसलिए कर्म के फल सुखादि का भोग भी नहीं होता।

शरीरादि की रथादि से उपमा देने का प्रयोजन इन्द्रियनिग्रह किस परिस्थिति में हो सकता है और किस परिस्थिति में नहीं, इसे दो

मन्त्रों से स्पष्ट करते हैं –

बुद्धिरहित का इन्द्रियनिग्रह दुष्कर

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा[1]।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥5॥

अन्वय–

य: सदा अविज्ञानवान् तु अयुक्तेन मनसा भवति। सारथेः दुष्टाश्वा: इव तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि।

अर्थ–

यः– जो जीव **सदा**– हमेशा **अविज्ञानवान्**– दुर्बुद्धिवाला **तु**– और **अयुक्तेन**– अवशीकृत **मनसा**– मन से युक्त **भवति**– होता है। **सारथेः**– सारथी के **दुष्टाश्वाः**– दुष्ट घोड़ों **इव**– के समान **तस्य**– उसकी **इन्द्रियाणि**– इन्द्रियाँ **अवश्यानि**– वश में नहीं होती हैं।

व्याख्या–

विज्ञान का अर्थ बुद्धि होता है और उससे भिन्न अविज्ञान का अर्थ दुर्बुद्धि। ऊपर तृतीय मन्त्र में बुद्धि को सारथी कहा है और मन को लगाम। रथी को रथ द्वारा गन्तव्य स्थल पर पहुँचने के लिए कुशल सारथी के साथ दृढ़ लगाम की आवश्यकता होती है। सारथी लगाम को दृढ़ता से पकड़ता है। अच्छा सारथी न होने पर लगाम के ढीला होने के कारण रथ के दुष्ट घोड़े हरी–हरी घास वाले जंगल की ओर मनमाना दौड़ते हैं। बलवान घोड़े असावधान सारथी के वश में नहीं होते। इसके परिणामस्वरूप रथी काँटे और पत्थर से युक्त गहरे गड्डे में गिर जाता है, उसी प्रकार शरीररूप रथ में स्थित जीवात्मा के अभीष्ट लक्ष्य परमात्मसाक्षात्कार के लिए कुशल बुद्धिरूप सारथी और वशीकृत मनरूप लगाम की अपेक्षा होती है किन्तु परमात्मसाक्षात्कार करने और उसके

.**टिप्पणी**– 1. सह इति पाठान्तरः।

साधन में प्रवृत्त होने का अध्यवसाय (निश्चयात्मिका बुद्धि) रूप सारथी जिस रथी जीवात्मा का नहीं है और संयमित मनरूप लगाम नहीं है। दुर्बुद्धिरूप अकुशल सारथी वाले उस रथी के चंचल मनरूप ढीली लगाम वाले अनादि काल से बिगड़े हुए बलवान् इन्द्रियरूप घोड़े आकर्षक शब्दादि विषयों की ओर दौड़ते हैं। वे दुर्बुद्धिरूप सारथी के अधीन नहीं होते। इसके परिणामस्वरूप जीवात्मा घोर, दुस्तर संसार सागर में गिर जाता है।

बुद्धिमान् का इन्द्रियनिग्रह सुगम

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा[1]।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥6॥

अन्वय-

य: तु सदा विज्ञानवान् युक्तेन मनसा भवति। सारथे: सदश्वा: इव तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि।

अर्थ-

य:- जो (शरीररूप रथ वाला) जीव **तु**- तो **सदा**- सदा **विज्ञानवान्**- बुद्धिवाला और **युक्तेन**- वशीकृत **मनसा**- मन से युक्त **भवति**- होता है। **सारथे:**- सारथी के **सदश्वा:**- निपुण घोड़ों **इव**- के समान **तस्य**- उसकी **इन्द्रियाणि**- इन्द्रियाँ **वश्यानि**- वश में होती हैं।

व्याख्या-

जैसे निपुण सारथी दृढ़ लगाम से युक्त अच्छी गति वाले अश्वों से रथ के द्वारा रथी को सुन्दर इष्ट स्थान पर ले जाता है, वैसे ही बुद्धि नियन्त्रित मन से युक्त इन्द्रियों से शरीर के द्वारा जीवात्मा को निरतिशय सुन्दर इष्ट स्थान परमात्मा में ले जाती है। जैसे रथ गन्तव्य स्थल में

टिप्पणी- 1. सह इति पाठान्तरः।

पहुँचने के लिए उपयोगी है, वैसे ही शरीर परमात्मसाक्षात्कार (की स्थिति) में पहुँचने के लिए उपयोगी है। जैसे सावधान सारथी के वश में घोड़े रहते हैं, वैसे ही निपुण बुद्धि के वश में इन्द्रियाँ रहती हैं। जिनको सांसारिक विषयों से हटाकर भगवत्प्राप्ति के साधनरूप पथ में लगाकर भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है।

अब इन्द्रियों को वश में न करने वाले को प्राप्त होने वाला फल कहा जाता है -

इन्द्रियों के अवशीकरण का फल

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कस्सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ 7॥

अन्वय-

यः अविज्ञानवान् अमनस्कः सदा अशुचिः तु भवति। सः तत् पदं न आप्नोति च संसारम् अधिगच्छति।

अर्थ-

यः- जो **अविज्ञानवान्**- दुर्बुद्धिवाला **अमनस्कः**- असंयमित मन वाला और **सदा**- सदा **अशुचिः**- अपवित्र **तु**- ही **भवति**- होता है। **सः**- वह **तत्**- उस **पदम्**- परमात्मा को **न**- नहीं **आप्नोति**- प्राप्त करता है। **च**- और **संसारम्**- संसार को **अधिगच्छति**- प्राप्त करता है।

व्याख्या-

जो प्राप्त किया जाता है, वह पद कहलाता है- **पद्यते इति पदम्।** मुमुक्षु के द्वारा प्राप्य परमात्मस्वरूप ही यहाँ पद शब्द से कहा जाता है। जो शरीररूप रथ में बैठा हुआ जीव दुर्बुद्धिरूप मूढ सारथी वाला और इन्द्रियरूप घोड़ों की अनियन्त्रित मनरूप लगाम वाला होता है, उसके इन्द्रियरूप घोड़े विषयरूप घास को खाते (भोगते) रहते हैं,

इस प्रकार यथेष्ट आचरणजन्य पाप से वह सदा अपवित्र बना रहता है, ऐसा व्यक्ति कुसंस्कारों के कारण परमात्मा की प्रप्ति के साधन में प्रवृत्त न होने से उनकी प्राप्ति नहीं कर सकता और शब्दादिविषयरूप कुमार्ग से नियन्त्रित न होने वाले इन्द्रियरूप घोड़ों से दुष्कर्म करने के परिणामस्वरूप कूकर-सूकर आदि निम्न योनियों को वारम्वार प्राप्त करता रहता है।

अब इन्द्रियों को वश में करने वाले साधक को प्राप्त होने वाला फल कहा जाता है-

इन्द्रियों के वशीकरण का फल

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥8॥

अन्वय-

तु यः विज्ञानवान् समनस्कः सदा शुचिः भवति। सः तत् पदम् तु आप्नोति, यस्माद् भूयः न जायते।

अर्थ-

तु- किन्तु **यः**- जो मनुष्य **विज्ञानवान्**- बुद्धि वाला **समनस्कः**- निग्रहीत मन वाला (और) **सदा**- सदा **शुचिः**- पवित्र **भवति**- होता है। **सः**- वह **तत्**- उस **पदम्**- परमात्मा को **तु**- ही **आप्नोति**- प्राप्त करता है **यस्माद्**- जहाँ से **भूयः**- पुनः संसार में **न**- नहीं **जायते**- उत्पन्न होता।

व्याख्या-

शरीररूप रथ में स्थित जो जीवात्मा बुद्धिरूप निपुण सारथी वाला और संयमित मनरूप लगाम वाला होता है, उसके इन्द्रियरूप घोड़े विषयरूप मार्ग में विचरण नहीं करते। इस प्रकार वह स्वेच्छा से पाप

नहीं करता है अपितु कानों से तत्त्वप्रतिपादक अध्यात्मशास्त्र को सुनने से, हाथों से सेवा करने से, पैरों से मन्दिर जाकर नेत्रों से भगवद्दर्शन करने से, मन से परमात्मचिन्तन करने से सदा सब प्रकार से पवित्र बना रहता है। ऐसा व्यक्ति उत्तम संस्कारों के कारण परमात्म-प्राप्ति के साध न में प्रवृत्त होकर उनको प्राप्त कर लेता है। जिससे पुनः संसार में जन्म नहीं होता।

पूर्व मन्त्र में प्राप्य पद कहा गया है, वह पद क्या है? ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कहते हैं -

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥9॥

अन्वय-

यः नरः विज्ञानसारथिः तु मनः प्रग्रहवान्। सः अध्वनः पारं विष्णोः तत् परमं पदम् आप्नोति।

अर्थ-

शरीररूप रथ वाला **यः**- जो **नरः**- मुमुक्षु मनुष्य **विज्ञानसारथिः**- अनुकूल बुद्धिरूप सारथी वाला **तु**- और **मनः प्रग्रहवान्**- वशीकृत मनरूप लगाम वाला होता है। **सः**- वह **अध्वनः**- संसरणचक्ररूप मार्ग के **पारम्**- पार **विष्णोः**- विष्णु के **तत्**- उस **परमम्**- परम **पदम्**- स्वरूप को **आप्नोति**- प्राप्त करता है, जहाँ से पुनः संसार में नहीं आता।

व्याख्या-

यहाँ रथी मुमुक्षु को वशीकृत इन्द्रियों वाला भी समझना चाहिए क्योंकि जिसका मन वश में होता है, उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं। जैसे लगाम को सारथी के वश में होने पर घोड़े वश में हो जाते हैं। अनुकूल बुद्धिरूप सारथी वाला, वशीकृत मनरूप लगाम वाला, वशीकृत इन्द्रियरूप अश्वोंवाला, शरीररूप रथ पर सवार जीवात्मा

संसाररूप मार्ग के पार (सीमारूप) परमात्मस्वरूप को प्राप्त करता है। परमात्मा का स्वरूप सकल चेतनाऽचेतन से पर है। सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं, विष्णु का वह परम स्थान (त्रिपादविभूति) है– **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः** (सु.उ.6) इसी प्रकार प्रस्तुत कठश्रुति में **परमं पदम्** से परमात्मा के अप्राकृत धाम को लिया जा सकता है तथापि इस शरीररूप रथ से वहाँ जाना संभव नहीं है, इसलिए इसी लोक में शरीर की स्थिति काल में होने वाला परमात्मानुभव विवक्षित है। सूक्ष्म शरीर अप्राकृत लोक की सीमा में स्थित विरजापर्यन्त जाता है तो **परमं पदम्** का भगवद्धाम अर्थ किया जा सकता है, यह शंका अनुपपन्न है क्योंकि ब्रह्मविद्यानिष्ठ की विद्या की निष्पत्ति सूक्ष्म शरीर से नहीं हो सकती, उसके लिए स्थूल शरीर अपेक्षित होता है, उसी में विद्यमान मन और अन्य इन्द्रियों के निग्रह की आवश्यकता बतायी गयी है अतः शरीर रहते अपरोक्षात्मक उपासना से परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करना ही परमात्मस्वरूप को प्राप्त करना है। यहाँ अधि गच्छति और आप्नोति का अर्थ साक्षात्कार करना है। **अत्र ब्रह्म समश्नुते** (क.उ.2.3.14) यह श्रुति भी उपासनाकालिक ब्रह्म के प्रत्यक्ष अनुभव को कहती है।

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करने वाला ब्रह्मवेत्ता ही संसाररूप मार्ग के पार ब्रह्म का अनुभव करता है, यह अभी कहा गया। अब शरीर, इन्द्रियादि का वशीकरण करने में कौन किससे प्रबल है? और वशीकरण की सीमा क्या है? इस विषय का प्रतिपादन करते हैं –

वशीकरण करने योग्य साधनों में प्रबल

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥ 10॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥11॥

अन्वय-

इन्द्रियेभ्यः पराः हि[1] अर्थाः च अर्थेभ्यः परं मनः। मनसः तु[2] परा बुद्धिः। बुद्धेः परः महान् आत्मा। महतः परम् अव्यक्तम्, अव्यक्तात् परः पुरुषः। पुरुषात् परं किंचित् न, सा काष्ठा, सा परा गतिः।

अर्थ-

इन्द्रियेभ्यः- इन्द्रियों से **पराः**- बलवान् **अर्थाः**- विषय हैं, **च**- और **अर्थेभ्यः**- विषयों से **परम्**- बलवान् **मनः**- मन है। **मनसः**- मन से **परा**- प्रबल **बुद्धिः**- बुद्धि है। **बुद्धेः**- बुद्धि से **परः**- प्रबल **महान्**- महान् **आत्मा**- आत्मा है। **महतः**- महान् आत्मा से **परम्**- प्रबल **अव्यक्तम्**- शरीर है। **अव्यक्तात्**- शरीर से **परः**- श्रेष्ठ **पुरुषः**- परमात्मा है। **पुरुषात्**- पुरुष से **परम्**- श्रेष्ठ **किंचित्**- कुछ **न**- नहीं है। **सा**[3]- परमात्मा **काष्ठा**- चरम सीमा (अवधि) है और **सा** [4]- वही (परमात्मा) **परा**- परम **गतिः**- प्राप्य है।

व्याख्या-

जिसने सासांरिक विषयों को अनर्थ का हेतु समझकर अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है, विषय की निकट उपस्थिति होने पर उसकी भी इन्द्रियाँ विचलित होकर क्षुब्ध कर देती हैं, उनका नियन्त्रण कठिन हो जाता है, इसलिए निग्रह करने में इन्द्रियों की अपेक्षा विषय प्रधान (प्रबल) हैं, अतः उनका निग्रह प्रथम किया जाता है। विषयों को हेय समझना और उनको निकट न रखना ही विषय को वश में करना है। जैसे शास्त्रों में 8 प्रकार का ब्रह्मचर्य कहा गया है, उसका पालन तभी संभव है, जब साधक स्त्री से दूर रहने का नियम बनाए अन्यथा नहीं। वैसे ही साधक को अन्य विषयों से भी दूर रहना चाहिए। मन विषय में आसक्त होने पर विषय की सन्निधि का त्याग करके एकान्त स्थल में निवास करने पर भी व्यक्ति परेशान बना रहता है, इससे सिद्ध होता है

टिप्पणी- 1, 2. निरर्थकं तु हीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम् (च.2.6)। 3. काष्ठाशब्दलिङ्गापेक्षया तच्छब्दोऽपि स्त्रीलिङ्गतया निर्दिष्टः। (आ.भा.) 4. अत्रापि तच्छब्दः गतिशब्दापेक्षया स्त्रीलिङ्गः।(आ.भा;)

कि वशीकरण करने में विषयों से मन बलवान् है, अतः उसका निग्रह करना चाहिए। विषयदोष के पुनः पुनः चिन्तन से विषय से चित्त को हटाने का अभ्यास मन का निग्रह कहलाता है- **तस्य (मनसः) वशीकरणं नाम तस्य मुहुर्मुहुर्विषयदोषचिन्तनेन तेभ्यो निवर्तनसंशीलनम्।** (श्रु.प्र.1.4.1) हे कौन्तेय अभ्यास और वैराग्य से मन वश में किया जाता है - **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।** (गी.6.35) इस प्रकार मन को निगृहीत करने के लिए श्रीभगवान् ने वैराग्य के साथ अभ्यास की भी आवश्यकता बतायी है। मन से पर बुद्धि है। यहाँ बुद्धि का अर्थ है- अध्यवसाय अर्थात् निश्चय। जैसा अध्यवसाय होता है, उसके अनुरूप ही कार्य होता है। मोक्ष की प्राप्ति का अध्यवसाय होने पर मुमुक्षु उसके साधन में प्रवृत्त होता है। पाप कर्म का अध्यवसाय होने पर व्यक्ति पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। विषयप्राप्ति का और उसके भोग का अध्यवसाय होने पर व्यक्ति विषयों की प्राप्ति में और उनके भोग में प्रवृत्त होता है। विषयों से मन को हटाने की दृढ़ता ही बुद्धि को वश में करना है। इससे परमात्मानुभवसम्बन्धी बुद्धि होती है, विषयानुभव-सम्बन्धी बुद्धि नहीं होती। बुद्धि के वश में होने पर मन, विषय और इन्द्रियाँ सभी वश में हो जाती हैं। मन को जीतने वाले सौभरि महर्षि का विषयभोग सम्बन्धी अध्यवसाय होने से संसार सागर में गिरना प्रसिद्ध है इसलिए बुद्धि को अवश्य वश में कर लेना चाहिए। बुद्धि से श्रेष्ठ महान् आत्मा है क्योंकि वह बुद्धि का आश्रय है। आत्मा के अधीन बुद्धि है तथा मन और अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ भी उसके अधीन हैं, इसलिए उसे महान् कहा गया है। अध्यवसाय के लिए इच्छा आदि करना ही आत्मा को वश में करना है- **आत्मनो वशीकरणाम् अध्यवसायार्थेच्छादिसंपादनम्।** (भा.द.1.4.1) महान् आत्मा से प्रबल शरीर है क्योंकि जीवात्मा की सभी प्रवृत्तियाँ उसके सत्त्वादि गुणों के अधीन हैं। दोषरहित अन्न के सेवन[1] आदि से शरीर को उपासना के लिए सात्त्विक बनाना ही उसे जीतना है। शरीर से भी प्रधान परमात्मा

टिप्पणी- 1. इसे समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में साधन सप्तम के अन्तर्गत 'विवेक' को देखना चाहिए।

हैं। वे उक्त दो मन्त्रों में वर्णित आत्मापर्यन्त सभी भूतों की अन्तरात्मा हैं, उन के अधीन सभी हैं, इसलिए वे सभी से पर हैं। उन मन्त्रों में परमात्मप्राप्ति के जिन उपायों का वशीकरण कहा गया है, उनकी काष्ठा अर्थात् चरम अवधि (सीमा) परमात्मा ही हैं इसलिए उन्हें वश में करना चाहिए। उनकी शरणागति ही उनका वशीकरण है। उनका वशीकरण हो जाने पर सब का वशीकरण हो जाता है, किसी का वशीकरण शेष नहीं रहता। वे परा गति अर्थात् परम् प्राप्य हैं। उनसे पर कुछ नहीं। वे सभी उपायों में प्रधान हैं। उनका वशीकरण हो जाने पर आत्मसाक्षात्कार का साधन ज्ञानयोग तथा परमात्मसाक्षात्कार का साधन भक्तियोग ये सब सहज हो जाते हैं। **तद् विष्णोः परमं पदम्** (क.उ.1.3.9) इस प्रकार परम प्राप्य (उपेय) रूप से वही वर्णित हैं। भगवान् सबसे पर हैं। उनसे पर कोई नहीं है। हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्र पर आरूढ सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमाते हुए ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में रहता है – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥** (गी.18.61) इसलिए उनकी ही शरण में जाना चाहिए – **तमेव शरणं गच्छ।** (गी.18.62) शरणागति का विस्तृत वर्णन विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में देखना चाहिए।

एकाग्र मन से परमात्मा का साक्षात्कार

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा[1] न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥12॥

अन्वय–

सर्वेषु भूतेषु आत्मा एषः गूढः न प्रकाशते। तु सूक्ष्मदर्शिभिः सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या दृश्यते।

अर्थ–

सर्वेषु– सभी **भूतेषु**– पदार्थों में **आत्मा**– आत्मारूप से विद्यमान

टिप्पणी – 1. गूढः आत्मा– गूढोत्मा, छान्दसः सन्धिः।

एषः- परमात्मा (त्रिगुणात्मक माया से) **गूढः**- तिरोहित है, इसलिए **न**- नहीं **प्रकाशते**- प्रकाशित होता है। **तु**- किन्तु **सूक्ष्मदर्शिभिः**- सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा **सूक्ष्मया**- सूक्ष्म अर्थ को जानने में समर्थ **अग्र्यया**- एकाग्र **बुद्ध्या**- मन के द्वारा **दृश्यते**- दिखाई देता है अर्थात् साक्षात्कृत होता है।

व्याख्या-

परमात्मा चेतन-अचेतन सभी पदार्थों की आत्मा है। सभी के अन्दर प्रवेश करके शासन (नियमन) करने वाला सर्वात्मा परमात्मा है- **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ.3.11.3)। यह श्रुति **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** इस प्रकार सर्वात्मा पद का व्याख्यान स्वयं करती है। सर्वात्मा अर्थात् सभी में स्थित नियन्ता परमात्मा। इस प्रकार आत्मा का अर्थ होता है- नियन्ता। जड़-चेतन सभी पदार्थों में उनके आत्मारूप से परमात्मा विद्यमान हैं। प्रकृति देह, इन्द्रिय और विषयरूप में परिणत होकर देह, इन्द्रिय में आत्मबुद्धि और विषयों में भोग्यत्वबुद्धि उत्पन्न करके बहिर्मुख करके अपनी ओर आकर्षित करती है, जिससे वह परमात्मसाक्षात्कार के साधन में न लगने से साक्षात्कार नहीं कर पाता है और सदा बहिर्मुख रहकर विषय का उपभोग करता रहता है। ऐसे अजितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए परमात्मा तिरोहित है, इसका अर्थ है कि साक्षात्कार का साधन सूक्ष्मबुद्धि अर्थात् निर्मल अन्तः करण अजितेन्द्रिय का नहीं है। अशुद्ध विषयोन्मुख मन होने के कारण विषय भोग करने से जो वासनाएं होती है। उन से परमात्मसाक्षात्कार का साध न मन तिरोहित होता है, इसलिए **एषः न प्रकाशते** अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। इस प्रकार क्या किसी को भी साक्षात्कार नहीं होता? इसके उत्तर में मन्त्र का उत्तरार्ध प्रस्तुत होता है- **दृश्यते तु ... .**। देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, तन्मात्राएं, अहंकार, महत्, प्रकृति, आत्मा और परमात्मा ये सभी सूक्ष्म पदार्थ हैं। सूक्ष्म पदार्थ के साक्षात्कार करने का स्वभाव जिन का है, वे सूक्ष्मदर्शी महापुरुष बाह्य और आभ्यन्तर विषयों में प्रवृत्ति से रहित, सूक्ष्म अर्थ का विवेचन करने में समर्थ एकाग्र मन से परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।

इन्द्रियों को जीते विना परमात्मसाक्षात्कार के दुष्करत्व को, वशीकरण करने योग्य साधनों में उत्तरोत्तर प्रधान को तथा जितेन्द्रिय के द्वारा सुगमता को कहकर अब वशीकरण की रीति को कहते हैं-

वशीकरण की रीति

यच्छेद् वाङ्[1]मनसी[2] प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ 13 ॥

अन्वय-

प्राज्ञः वाग् मनसी यच्छेत्, तद् आत्मनि ज्ञाने यच्छेत्। ज्ञानं महति आत्मनि नियच्छेत्, तत् शान्ते आत्मनि यच्छेत्।

अर्थ-

प्राज्ञः- परमात्मदर्शन के लिए प्रवृत्त हुआ साधक **वाग्**- वाक् सहित सभी इन्द्रियों को **मनसी**- मन में **यच्छेत्**- वश करके स्थित करे। **तद्**- मन को **आत्मनि**- आत्मा में विद्यमान **ज्ञाने**- बुद्धि में **यच्छेत्**- वश करके स्थित करे। **ज्ञानम्**- बुद्धि को **महति**- महान् **आत्मनि**- आत्मा में **नियच्छेत्**- निग्रहीत करके स्थित करे। **तत्**- आत्मा को **शान्ते**- 6 उर्मि से रहित **आत्मनि**- परमात्मना में **यच्छेत्**- निग्रहीत करके स्थापित करे।

व्याख्या-

परमात्मसाक्षात्कार के साधन पथ के पथिक को किसका-किसका वशीकरण करके आगे यात्रा जारी रखनी है? इसे कहते हैं- प्रस्तुत श्रुति में आया वाक् पद कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय सभी का उपलक्षण है। वाक् और चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ मतवाले घोड़ों के समान अपने-अपने

टिप्पणी- 1. द्वितीयाविभक्तेः सुपां सुलुक् (अ.सू.7.1.39) इत्यादिना लुक्।
2. मनसी इति सप्तम्याः छान्दसो दीर्घः।

विषयों में विचरण करती रहती हैं। विषय से इन्द्रियों को हटाना ही इन्द्रियों का वशीकरण है। साधक को चाहिए कि वह प्रथम इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन में स्थापित करे। इन्द्रियों को वश में करके मन में स्थित करने का अर्थ है- मन की ध्यान से प्रतिकूल प्रवृत्ति का त्याग। चक्षु आदि इन्द्रियों का रूपादि विषयों से सम्बन्ध होने पर ध्यान से विपरीत प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं इसलिए उन्हे निगृहीत करके मन में स्थापित किया जाता है और ऐसा होने पर आत्मा की ओर उन्मुख होने के लिए मन तैयार हो जाता है। इन्द्रियों को मन में स्थित करना घोड़ों के लगाम लगाना जैसा कार्य है। मनरूप लगाम से नियन्त्रित इन्द्रियरूप घोड़े विषयरूप मार्ग पर विचरण नहीं कर सकते। इन्द्रियों को मन में स्थित करने के बाद मन को कहाँ लगाएं? इस पर कहते हैं- **तद् यच्छेत् ज्ञान आत्मनि।** आत्मा में विद्यमान बुद्धि को श्रुति ज्ञान शब्द से कहती हैं, वह विषयों में त्याज्यत्व का निश्चयरूप है अर्थात् विषय त्याज्य हैं, ऐसा अध्यवसाय (निश्चय) ही बुद्धि है। मन को निगृहीत करके बुद्धि में लगाने का अर्थ है- वैसे निश्चय के अनुकूल प्रवृत्ति को करना। इसके पश्चात् बुद्धि को वश में करके आत्मा में स्थापित किया जाता है। **ज्ञानमात्मनि** यहाँ पर आत्मा पद से अपने प्रत्यगात्मस्वरूप को लिया जाता है। उसे शरीररूप रथ का रथी होने से महान् कहते हैं। बुद्धि को वश में करके आत्मा में स्थापित करने का अर्थ है- आत्मा ही उपादेय है इसलिए वही साक्षात्कार के योग्य है, ऐसा समझकर बुद्धि का एकमात्र आलम्बन आत्मा को बनाना। इसके अनन्तर आत्मा को वशीकृत करके शान्त परमात्मा में स्थित किया जाता है। क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु ये 6 ऊर्मि कही जाती हैं। इनसे रहित परमात्मा को शान्त कहते हैं। प्रत्यगात्मा को शान्त परमात्मा में स्थित करने का अर्थ है- अपने प्रत्यगात्मस्वरूप को परमात्मा का शेष समझना। परमात्मा की इच्छा के अनुसार उपयोग के योग्य होना ही आत्मा का शेषत्व है। परमात्मा शेषी हैं और आत्मा उनका शेष[1] है। इस प्रकार इन्द्रिय आदि का वशीकरण करके परमात्मा की उपासना करने से साक्षात्कार होता है।

टिप्पणी- 1. इसकी विस्तृत जानकारी के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन को और तत्त्वत्रय की तत्त्वविवेचनी व्याख्या को देखिए।

इन्द्रिय आदि के वशीकरण की रीति का उपदेश करके ब्रह्मज्ञान के अधिकारी पुरुष को असावधान नहीं रहना चाहिए, इस प्रकार आचार्य यम प्रोत्साहित करते हैं –

तत्त्वज्ञान के लिए प्रोत्साहन

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥14॥

अन्वय–

जाग्रत उत्तिष्ठत, वरान् प्राप्य निबोधत। तत् दुर्गम्, कवयः पथः क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा वदन्ति।

अर्थ–

मोह निद्रा से **जाग्रत**– जागो, विषयशय्या से **उत्तिष्ठत**– उठो। **वरान्**– ब्रह्मवेत्ता आचार्यों को **प्राप्य**– प्राप्त करके (परमात्मतत्त्व का) **निबोधत**– ज्ञान प्राप्त करो। **तत्**– परमात्म तत्त्व **दुर्गम्**– दुरधिगम है। **कवयः**– परमात्मतत्त्व को जानने वाले (उस तत्त्व के ज्ञानरूप) **पथः**– मार्ग को जानते हैं और उसे **क्षुरस्य**– छुरे की **निशिता**– तीक्ष्ण **दुरत्यया**– दुस्तर **धारा**– धार के समान **वदन्ति**– कहते हैं।

व्याख्या–

मनुष्य शय्या में निद्रा लेता है। अज्ञानी जीव की चित्तवृत्तियाँ विषयों में लगी रहती हैं। 1. शब्द 2. स्पर्श और स्पर्शवान् वस्तु 3. रूप और रूपवान् वस्तु 4. रस 5. गन्ध ये श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। 1. बोलना 2. आदान-प्रदान 3. संचरण 4. मलमूत्र का त्याग 5. संभोग ये वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। मन के विना किसी भी इन्द्रिय की कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। मन का अपना स्वतन्त्र विषय है– स्मरण। सभी संसारी प्राणी इन विविध-विचित्र, आकर्षक आपातरमणीय शब्दादि विषयरूप शय्या में मोहरूप निद्रा ले रहे हैं। **मोहनिसाँ सब**

सोवनिहारा(रा.च.मा.2.93.2)। सहस्रों माता-पिता से भी बढ़कर वात्सल्य करने वाली भगवती श्रुति कहती है- मोहरूप निद्रा से जागो, दुःखदायी विषयरूप शय्या से उठो और विधिवत् श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के पास जाकर मोक्ष का साधन ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करो।

अभी श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करने को कहा गया, ऐसा क्यों? क्योंकि ब्रह्मतत्त्व दुर्गम है अर्थात् उसे अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते और सामान्य उपदेशकों से भी नहीं जान सकते। ब्रह्मज्ञ पुरुष ब्रह्म के ज्ञानरूप मार्ग को जानते हैं तथा उसे छुरे की तीक्ष्ण और अत्यन्त खतरनाक धार के समान कहते हैं। जैसे- पैनी की हुई छुरे की तीक्ष्ण और दुस्तर धार पर चलना अत्यन्त कठिन है। कोई प्रशिक्षित कुशल व्यक्ति ही उस पर चल सकता है, अन्य व्यक्ति यदि चलने का प्रयास करे तो तीक्ष्ण, दुस्तर धार से अवश्य कट जाएगा, वैसे ही आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके ही उस (ज्ञान) मार्ग पर चला जा सकता है। आचार्य से वेदान्त वाक्यों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना ही श्रवण है। उस पर चलने का अर्थ है- मनन और निदिध्यासन करना। निदिध्यासनात्मक ज्ञान ही प्रीतिरूप होने पर भक्ति कहा जाता है। साक्षात्कारापन्न इसी भक्तिरूप निदिध्यासन से मोक्ष प्राप्त होता है। आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने वाला प्रशिक्षित मुमुक्षु उनके द्वारा उपदिष्ट रीति से उस पथ पर चल सकता है अन्यथा वह इस तीक्ष्ण, दुरत्यय मार्ग पर नहीं चल पाएगा, उससे कट जाएगा अर्थात् श्रेयपथ से च्युत होकर प्रेयपथ पर आ जायेगा और जिससे साक्षात्कार न होने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। इसीलिए ब्रह्मविद् आचार्य से ही उपदेश प्राप्त करके परमात्मसाक्षात्कार के पथ पर चलना चाहिए और किसी को आचार्य के उपदेश के विना स्वयं चलने का प्रयास नहीं करना चाहिए। कुछ लोग आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके भी साक्षात्कार के पथ पर नहीं चलते, अतः **प्राप्य वरान् निबोधत** का प्रकारान्तर से भी अर्थ किया जा सकता है- सेवित श्रीभगवान् या ब्रह्मोपासकों से **वरान्**- तुम मोक्ष को प्राप्त करो। ऐसे वरों को प्राप्तकर **निबोधत**- साक्षात्कार करो अथवा शरणागति से प्रसन्न श्रीभगवान् से **वरान्**- अनुग्रह को प्राप्त कर **निबोधत**- साक्षात्कार करो। **यमेवैष**

वृणुते तेन लभ्यः। (क.उ.1.2.23) ऐसा कठ श्रुति ही कहती है।

पूर्वमन्त्र में ब्रह्मविद्या के लिए प्रोत्साहित करते हुए सम्प्रदायविद् आचार्य से ही ब्रह्मविद्या प्राप्त करने को कहा था, अब उस विद्या का फल कहा जाता है –

ब्रह्मविद्या का फल

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥15॥

अन्वय-

यत् नित्यम् अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अरसम्, अगन्धवत् च अव्ययं तथा अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

अर्थ-

यत्- जो **नित्यम्**- सदा **अशब्दम्**- शब्द से रहित **अस्पर्शम्**- स्पर्श से रहित, **अरूपम्**- रूप से रहित, **अरसम्**- रस से रहित, **अगन्ध वत्**- गन्ध से रहित **च**- और **अव्ययम्**- उपचय-अपचय से रहित **तथा**- तथा **अनाद्यनन्तम्**- आदि-अन्त से रहित **महतः**- प्रत्यगात्मा से **परम्**- पर **ध्रुवम्**- स्थिर **तम्**- ब्रह्म का **निचाय्य**- प्रत्यक्ष करके **मृत्युमुखात्**- मृत्यु के मुख से **प्रमुच्यते**- छूट जाता है अर्थात् भीषण संसार से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या-

अशब्दम् आदि पाँचों के साथ नित्यम् का अन्वय होता है, प्राकृत पदार्थों में जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विद्यमान होते हैं, परमात्मा उनसे सदा रहित है। परमात्मस्वरूप में शब्दादि गुण नहीं होते।

परमात्मा विशुद्ध मन से ग्राह्य है, प्राण (जीवात्मा) को धारण करने वाला है, प्रकाशमान दिव्यमङ्गल विग्रह से युक्त है, सत्यसंकल्प वाला और अव्याकृत आकाश (प्रधान) का भी आत्मा है, सृष्टि आदि कर्म को करने वाला है, सभी अभीष्ट पदार्थों वाला है, सभी प्रकार के अप्राकृत गन्ध और रस से सम्पन्न है तथा सभी कल्याणगुणों को स्वीकार करके अवाप्तसमस्तकाम होने के कारण निरपेक्ष होकर शान्त भाव से स्थित हैं- **मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।** (छां.उ. 3.14.2) इस श्रुति में भारूप शब्द से भगवान् के दिव्यमङ्गल विग्रह का वर्णन है, उसमें सभी प्रकार के अप्राकृत रूप, रस और गन्धादि विद्यमान् हैं। परमात्मस्वरूप में रूपादि होते ही नहीं, उनके श्रीविग्रह में अप्राकृत रूपादि होते हैं। वे श्रीविग्रह के द्वारा परमात्मा में कहे जाते हैं। अव्यय का अर्थ है- व्यय (अपचय या ह्रास) से रहित। यहाँ व्यय शब्द वृद्धि (उपचय) का भी बोधक है। इस प्रकार अव्यय का अर्थ उपचय-अपचय से रहित होता है। परमात्मस्वरूप उपचय-अपचय से रहित है अर्थात् सदा एकरूप रहने वाला है। परमात्मा अनाद्यनन्त अर्थात् उत्पत्ति-विनाश से रहित है। पूर्व **आत्मनि महति नियच्छेत्** (क.उ.1.3.13) इस प्रकार महत् शब्द से कहे जीवात्मा को ही यहाँ पर महत् शब्द से पुनः कहा है। परमात्मा जीवात्मा से श्रेष्ठ है और ध्रुव है। यहाँ ध्रुव का अर्थ है- स्वरूपतः और गुणतः स्थिरता वाला। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही स्वरूपतः स्थिर हैं किन्तु बद्ध जीवात्मा के आश्रित रहने वाले ज्ञान गुण का कर्मरूप उपाधि के कारण संकोच-विकास होता है इसलिए वह गुणतः स्थिर नहीं है। परमात्मा गुणतः भी स्थिर है, ऐसे ब्रह्म का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान (अपरोक्ष विद्या) करके मुमुक्षु मृत्यु के मुख से छूट जाता है। मृत्युमुख का अर्थ है- मृत्यु के समान भंयकर संसार का कारण कर्मरूप अज्ञान, उससे छूट जाता है अर्थात् सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अब कठोपनिषत् के प्रथम अध्याय के सुनने और सुनाने का फल कहा जाता है-

नाचिकेतोपाख्यान के श्रवण और वर्णन का फल

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ 16॥

अन्वय-

मृत्युप्रोक्तं नाचिकेतं सनातनम् उपाख्यानम् श्रुत्वा च उक्त्वा मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।

अर्थ-

मृत्युप्रोक्तम्- आचार्य यम के द्वारा उपदिष्ट (और) **नाचिकेतम्**- नचिकेता के द्वारा प्राप्त इस **सनातनम्**- नित्य **उपाख्यानम्**- कथानक को (ब्रह्मवेत्ताओं से) **श्रुत्वा**- सुनकर **च**- और मुमुक्षुओं को **उक्त्वा**- सुनाकर **मेधावी**- बुद्धिमान् मनुष्य **ब्रह्मलोके**- सत्यलोक में **महीयते**- पूजित होता है।

व्याख्या-

सनातन का अर्थ है- सदा रहने वाला अर्थात् नित्य। अपौरुषेय वेद नित्य हैं। कठोपनिषत् भी वेद के अन्तर्गत है, वह भी नित्य है। इस नाचिकेतोपाख्यान को ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषों से सुनकर और जिज्ञासुओं के समक्ष उसका वर्णन करके मेधावी व्यक्ति सत्यलोक में पूजित होता है। इस प्रकार इस कथानक को सुनने और सुनाने का फल पूजित होकर सत्यलोक की प्राप्ति है। सुनने के बाद मनन-निदिध्यासन करने वाला साधक तो अप्राकृत ब्रह्मलोक जाकर मोक्ष को प्राप्त करता है। यदि कोई मनुष्य मनन-निदिध्यासन न करके इस आख्यान को सुनता है या सुनाता है तो वह प्राकृत सत्यलोक में वहाँ पर विद्यमान आत्माओं के द्वारा सम्मानित होता है। यह इस उपनिषत् के प्रथम अध्याय के सुनने और सुनाने का फल है।

य इदं परमं गुह्यं श्रावयेत् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥17॥

॥ इति तृतीया वल्ली ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अन्वय-

यः प्रयतः परमं गुह्यम् इदं ब्रह्मसंसदि वा श्राद्धकाले श्रावयेत्, तद् आनन्त्याय कल्पते। तद् आनन्त्याय कल्पते इति।

अर्थ-

यः- जो **प्रयतः**- पवित्र होकर **परमम्**- अत्यन्त **गुह्यम्**- गोपनीय **इदम्**- नाचिकेतोपाख्यान को **ब्रह्मसंसदि**- ब्राह्मणों की सभा में **वा**- अथवा **श्राद्धकाले**- श्राद्ध के समय (भोजन के लिए बैठे ब्राह्मणों के समक्ष शब्दतः अथवा अर्थतः) **श्रावयेत्**- सुनाये (तो) **तद्**- ब्राह्मणसभा और श्राद्धकर्म **आनन्त्याय**- अनन्त फल देने में **कल्पते**- समर्थ होता है। **तद्**- ब्राह्मणसभा और श्राद्धकर्म **आनन्त्याय**- अनन्त फल देने में **कल्पते**- समर्थ होता है।

व्याख्या-

पवित्र होकर अत्यन्त गोपनीय इस आख्यान को ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में भोजनार्थ बैठे ब्राह्मणों को शब्दतः, अथवा अर्थतः सुनाने से ब्राह्मणसभा और श्राद्धकर्म अनन्त फल देने में समर्थ होते हैं अर्थात् ब्राह्मणों के आशीर्वाद से अनन्त फल के साधन मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है और श्राद्ध कर्म से पितरों को अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है। इसके सुनाने की ही इतनी बड़ी महिमा है। मन्त्र में **'तदानन्त्याय कल्पते।'** इसकी दो बार आवृत्ति अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

॥ तृतीय वल्ली की व्याख्या समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वितीयोध्यायः

प्रथमा वल्ली

सभी इन्द्रियों का मूल स्थान हृदय है, वहीं पर आत्मा के साथ परमात्मा भी रहता है, फिर भी इन्द्रियाँ अपने साथ रहने वाले को ही नहीं जान पाती हैं, इसका क्या कारण है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

परमात्मा को न जानने का कारण

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥1॥

अन्वय-

स्वयंभूः खानि पराञ्चि व्यतृणत्, तस्मात् पराङ् पश्यन्ति, अन्तरात्मन् न। कश्चिद् धीरः अमृतत्वम् इच्छन् आवृत्तचक्षुः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्।

अर्थ-

स्वयंभूः- परमात्मा ने **खानि**- इन्द्रियों को **पराञ्चि**- बहिर्मुख (परप्रकाशक) करके **व्यतृणत्**- हिंसित कर दिया। वे (इन्द्रियाँ)**तस्मात्**- बाह्य विषयों का प्रकाशक (बोधक) होने से **पराङ्**- बाह्य विषय को **पश्यन्ति**- देखती हैं। **अन्तरान्तमन्**- परमात्मा को **न**- नहीं (देखती हैं।) **कश्चिद्**- कोई सौभाग्यशाली भगवदनुग्रहप्राप्त **धीरः**- आत्मा-अनात्मा का विवेक रखने वाला व्यक्ति **अमृतत्वम्**- मोक्ष की **इच्छन्**- इच्छा करते हुए **आवृत्तचक्षुः**- चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर **प्रत्यगात्मनम्**- अन्तरात्मा का **ऐक्षत्**- साक्षात्कार करता है।

व्याख्या-

संसारी जीव के पास अपने से भिन्न वस्तु के ज्ञान की साधन

इन्द्रियाँ ही हैं किन्तु परमात्मा ने जीवों के कर्मानुसार उसकी इन्द्रियों को बाह्य विषयों के ज्ञान का साधन बना कर उनका हनन कर दिया अर्थात् इन्द्रियों को अन्तरात्मा के ज्ञान के सामर्थ्य से रहित कर दिया अथवा **स्वयंभूः**- परमात्मा ने **पराञ्चि**- बाह्यविषयों के प्रकाशक **खानि**- इन्द्रियों की **व्यतृणत्**[1]- रचना की। इसलिए वे आत्मा से भिन्न बाह्य विषयों को ही जानती हैं, आत्मा और उस के अन्तरात्मा परमात्मा को नहीं जानती हैं। **आवृत्तचक्षुः** यहाँ चक्षु पद अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षण है। भगवदनुग्रहप्राप्त कोई महासौभाग्यशाली मुमुक्षु मोक्ष की इच्छा करते हुए पूर्वोक्त रीति से इन्द्रियों का निग्रह करके सूक्ष्म बुद्धि (विशुद्धमन) द्वारा उनका साक्षात्कार करता है। दूसरे के लिए प्रकाशित होने वाली वस्तु पराक् एवं अपने लिए प्रकाशित होने वाली वस्तु प्रत्यक कही जाती है। घटादि ज्ञाता आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं, वे पराक् हैं। जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही अपने लिए स्वयं प्रकाशित होने वाले - स्वस्मै स्वयं भासमान हैं, वे दोनों प्रत्यक् हैं। जीवात्मा का अन्तरात्मा परमात्मा है। प्रत्यगात्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों का बोधक है।

अल्पबुद्धि वाले मनुष्य अपने अनर्थ को भी जानने में समर्थ नहीं होते, इसलिए विषयों में आसक्त होते हैं, बुद्धिमान् वैसे नहीं होते, इस विषय को कहते हैं -

बुभुक्षु और मुमुक्षु की भिन्न रुचियाँ

पराचः कामान् अनुयन्ति बालास्ते मृत्योः यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥2॥

अन्वय-

बालाः पराचः कामान् अनुयन्ति। ते विततस्य मृत्योः पाशं यन्ति।

टिप्पणी- 1. 'कुर्द खुर्द गुर्द क्रीडायामेव' ऐसा पाणिनीय धातुपाठ है, इससे धातुओं के अनेक अर्थ स्वीकार किये जाते हैं, अतः हिंसार्थक तृह् धातु का रचना अर्थ होता है।

अथ धीराः अमृतत्वं ध्रुवम् विदित्वा इह अध्रुवेषु न प्रार्थयन्ते।

अर्थ-

बालाः- अल्पबुद्धिवाले **पराचः**- बाह्य **कामान्**- विषयों का **अनुयन्ति**- अनुसरण करते हैं। **ते**- वे **विततस्य**- अप्रतिहत आज्ञा वाले **मृत्योः**- मुझ यमराज के **पाशम्**- बन्धन को **यन्ति**- प्राप्त होते हैं **अथ**- और **धीराः**- विवेकी पुरुष **अमृतत्वम्**- मुक्ति को **ध्रुवम्**- स्थिर फल **विदित्वा**- जानकर **इह**- इस संसार में **अध्रुवेषु**- विनाशी पदार्थों में किसी को भी **न**- नहीं **प्रार्थयन्ते**- चाहते हैं।

व्याख्या-

अर्थ और अनर्थ का विवेक करने वाली बुद्धि से रहित जो मूर्ख मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि तथा उनके आश्रय स्त्री-पुत्र आदि सांसारिक विषयों की चमक-दमक और आपातरमणीयता को देखकर उन्हें हितकर समझकर आसक्त होकर भोगते हैं, वे अप्रतिहत शासन वाले मृत्यु देवता के जन्ममरणादिरूप संसार बन्धन को प्राप्त होते हैं। कर्मो का फल विषयभोग अस्थिर है किन्तु ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष स्थिर है अर्थात् सदा रहने वाला है। विवेकी पुरुष इस विषय में गम्भीरता से विचार करते हैं कि विषयभोग तो दूसरे शरीरों से भी पर्याप्त मिलता है। मनुष्यशरीर उनसे विलक्षण है, उसका वास्तविक लक्ष्य विषयभोग कदापि नहीं। ऐसा विचार करने पर जब वह समझता है कि सकल बन्ध न से विनिर्मुक्त होकर परमात्मानुभवरूप स्थिर मोक्ष को प्राप्त करना है, तब वह मुमुक्षु सर्वतोभावेन मोक्ष के साधन में लग जाता है और विनाशी भोग्य पदार्थों की कामना नहीं करता। इस प्रकार परमात्मेतर सकल पदार्थों की कामना न करते हुए मोक्षसाधन के अनुष्ठान से अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करता है।

परमात्मा ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों का प्रकाशक बना दिया। यह कठ मन्त्र 2.1.1 में कहा गया था। वे इन्द्रियाँ किसके द्वारा अपना कार्य करती हैं? यह कहा जाता है।

परमात्मस्वरूप का वर्णन

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद् वै तत्॥3॥

अन्वय-

येन एतेन एव रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् विजानाति। अत्र किं परिशिष्यते। तत् एतद् वै।

अर्थ-

येन- जिस **एतेन** - परमात्मा के द्वारा **एव**- ही (प्राणी) **रूपम्**- रूप **रसम्**- रस **गन्धम्**- गन्ध **शब्दान्**- शब्द **स्पर्शान्**- स्पर्श **च**- और **मैथुनान्**- संभोगसुख को **विजानाति**- ठीक से जानता है। सम्पूर्ण पदार्थों के **अत्र**- प्रकाश का साधन परमात्माा होने पर उससे अप्रकाशित (अज्ञात) **किम्**- कौन सी वस्तु **परिशिष्यते**- शेष रहती है? **तत्**- पूर्व में प्राप्यरूप से निर्दिष्ट विष्णु का परम पद **एतद्**- इस मन्त्र से प्रतिपाद्य परमात्मस्वरूप **वै**- ही है।

व्याख्या-

रूपादि सभी विषयों के ज्ञान का प्रधान साधन परमात्मा है। **आयुः**- सभी प्राणियों के प्राणन का हेतु **अमृतम्**- काल से अपरिच्छिन्न **ज्योतिषाम्**- प्रकाशक ज्योतियों के **ज्योतिः**- प्रकाशक **तम्**- परमात्मा की **देवाः**- देवता **उपासते**- उपासना करते हैं- **तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्** (बृ.उ.4.4.16) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति विषयों के प्रकाशक इन्द्रियों का भी प्रकाशक परमात्मा को कहती है और **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः** (के.उ.1.2) यह केन श्रुति सभी इन्द्रियों को जानने का सामर्थ्य देने वाले परमात्मा को कहती है। परमात्मा से अनुगृहीत जीव सबको जानता है- **येनेदं सर्वं विजानाति** (बृ.उ.2.4.14) इससे सिद्ध होता है कि जीव के सभी प्रकार के ज्ञान परमात्मरूप साधन से ही होते हैं, उसके विना नहीं हो सकते। जिस परमात्मा के द्वारा प्राणी शुक्लादि

रूपों को, मधुरादि रसों को , सुरभि आदि गन्धों को, ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक, प्रिय-कठोर शब्दों को, शीत-उष्ण, मृदु-कठोर स्पर्श को और स्त्री-पुरुष के मेल से होने वाले सुख को जानता है। उस सब के प्रकाश (ज्ञान) के साधन से अज्ञात कौन सी वस्तु रहती है? अर्थात् सब के प्रकाशक-सर्वज्ञ परमात्मा से अज्ञात कोई भी वस्तु नहीं रहती है। इस मन्त्र में स्पर्शपर्यन्त ज्ञानेन्द्रियों के विषय कहे गये हैं। मैथुनान् पद उपलक्षण से सभी कर्मेन्द्रियों के कार्यों को कहता है। नचिकेता के द्वारा पूर्व में **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्** (क.उ.1.2.14) इस प्रकार प्राप्यरूप से पूँछा गया तथा आचार्य यम के द्वारा **तद् विष्णोः परमं पदम्** (क.उ.1.3.9) इस प्रकार कहा गया विष्णु का परम पद प्रस्तुत श्रुति से प्रतिपाद्य परमात्मस्वरूप ही है।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ 4 ॥

अन्वय-

स्वप्नान्तं च जागरितान्तं उभौ येन अनुपश्यति। महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति।

अर्थ-

स्वप्नान्तम्- स्वप्न के प्रपञ्च **च**- और **जागरितान्तम्**- जाग्रत के प्रपञ्च **उभौ**- दोनों को **येन**- जिस परमात्मरूप साधन से **अनुपश्यति**- देखता है। उस **महान्तम्**- सर्वात्मा **विभुम्**- व्यापक **आत्मानम्**- परमात्मा का **मत्वा**- साक्षात्कार करके **धीरः**- बुद्धिमान् मनुष्य **न**- नहीं **शोचति**- शोक करता है।

व्याख्या-

स्वप्नावस्था के पदार्थ भिन्न होते हैं और जाग्रत अवस्था के भिन्न। जीव के सभी प्रकार के ज्ञान का प्रधान साधन परमात्मा ही है क्योंकि उससे ही प्रेरित होकर जीव इन्द्रिय के द्वारा विषय का ज्ञान करने

में प्रवृत्त होता है और वही इन्द्रियों को विषय का प्रकाश करने का सामर्थ्य प्रदान करने वाला है इसलिए जीव जिस परमात्मरूप साधन से स्वप्नकालिक और जाग्रतकालिक प्रपञ्च को देखता है, सब के अन्तरात्मा उस व्यापक परमात्मा का साक्षात्कार करके धीर व्यक्ति दुःखों से सर्वथा रहित हो जाता है।

जिस महान, व्यापक परमात्मा के साक्षात्कार से शोक की निवृत्ति होती है, उसके सर्वेन्द्रियनियन्तृत्व का तृतीय और चतुर्थ मन्त्र से प्रतिपादन करके अब त्रिकालवर्ती पदार्थों के नियन्तृत्व का प्रतिपादन किया जाता है–

त्रिकालवर्ती पदार्थों का नियन्ता परमात्मा

य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद् वै तत्॥5॥

अन्वय –

य: मध्वदम् इदं[1] जीवम् अन्तिकात् भूतभव्यस्य ईशानम् आत्मानं वेद। ततः न विजुगुप्सते। तत् एतद् वै।

अर्थ–

यः– जो **मध्वदम्**– कर्मफल के भोक्ता **इदम्**– इस **जीवम्**– जीव को और इसके **अन्तिकात्**– समीप में विद्यमान **भूतभव्यस्य**– भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यत्कालिक सम्पूर्ण चेतनाऽचेतन के **ईशानम्**– नियन्ता **आत्मानम्**– परमात्मा को **वेद**– जानता है। वह **ततः**– उनको जानने के कारण (किसी की) **न विजुगुप्सते**– निन्दा नहीं करता है। **तत्**– पूर्व में प्राप्य कहा गया परम पद **एतद्**– इस मन्त्र से प्रतिपाद्य सर्वनियन्ता परमात्मा **वै**– ही है।

....

टिप्पणी – 1. इदम् इति लिङव्यत्ययः छान्दसः (प्रका.)।

व्याख्या–

कर्मफल को मधु कहते हैं क्योंकि वह विषयी प्राणी को आपाततः मधु की तरह मधुर प्रतीत होता है, उसे भोगने वाले जीवात्मा को मध्वद कहते हैं– **मधु कर्मफलम्, मधुवत् मधुरतया आपाततः प्रतीयमानत्वात्। तत् अत्ति भुङ्क्ते इति मध्वदः** (आ.भा.)। **ऋतं पिबन्तौ** (क.उ.1.3.1) इस प्रकार कर्मफल को भोगने वाले जीवात्मा का निर्देश किया जाता है और **गुहां प्रविष्टौ** (ब्र.सू.1.2.11) इस प्रकार जीवात्मा के समीप में विद्यमान परमात्मा का निर्देश किया जाता है। जो कर्मफल भोक्ता आत्मा को और उसके समीप विद्यमान त्रिकालवर्ती पदार्थों के शासक परमात्मा को जानता है, वह यह भी समझता है कि परमात्मा स्वतन्त्र है और चेतनाऽचेतन जगत् उसके अधीन है, चेतन जीव अपने पूर्व कर्मों के अनुसार ही परमात्मा से प्रेरित होकर कार्यों में प्रवृत्त हो रहे हैं इसलिए यदि कोई ज्ञानी को पीड़ित करता है तो वह समझता है कि मुझे पाप के फल का भोग कराके निर्मल बनाने के लिए ईश्वर से प्रेरित होकर कृपा ही कर रहा है। इस प्रकार जब वह अपने को सताने वाले का भी आभार व्यक्त करता है तो किसी की भी निन्दा नहीं कर सकता। कुछ विद्वान् इस मन्त्र में आए ततः पद का अर्थ तदनन्तर– इसके पश्चात् करते हैं तो उनको जानने के पश्चात् निन्दा नहीं करता है। इष्ट करने वाले से राग और अनिष्ट करने वाले से द्वेष होता है।_ किसी की निन्दा करने का कारण द्वेष होता है। सबको सम्यक् जानने वाले ब्रह्मोपासक के शत्रु होते ही नहीं इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं करता है, यह अर्थ संभव होता है। अन्य व्याख्याकार ऐसा अर्थ करते हैं कि जो जीवात्मा और सर्वनियन्ता परमात्मा को जानता है। कोई उसकी (जानने वाले की) निन्दा न करें क्योंकि वैसा ज्ञाता सबके द्वारा सम्माननीय है। पूर्व (क.उ.1.2.14) में नचिकेता के द्वारा पूँछा गया और बाद में यम के द्वारा उपदिष्ट (क.उ.1.3.9) परम पद इस मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित सबका शासक परमात्मा ही है।

सृष्टिकर्ता परमात्मा

यः पूर्वं तपसो जातमद्‌भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद् वै तत्॥6॥

अन्वय-

यः पूर्वम् अद्‌भ्यः अजायत। तपसः पूर्वं जातं गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं भूतेभिः यः व्यपश्यत। तद् एतद् वै।

अर्थ-

यः- ब्रह्मा **पूर्वम्**- व्यष्टि सृष्टि के पूर्व **अद्‌भ्यः**- जल से **अजायत**- उत्पन्न हुआ। परमात्मा के **तपसः**- संकल्प से **पूर्वम्**- रुद्रादि की सृष्टि से पहले **जातम्**- उत्पन्न तथा **गुहाम्**- हृदय गुहा में **प्रविश्य**- प्रवेश करके **तिष्ठन्तम्**- निवास करने वाले **भूतेभिः**- देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि से युक्त उस चतुर्मुख को **यः**- जिस परमात्मा ने "यह सम्पूर्ण व्यष्टि सृष्टि का कर्ता हो।" इस भावना से उसे **व्यपश्यत**- देखा। **तद्**- पूर्व में प्राप्यरूप से कहा गया परम पद **एतद्**- इस श्रुति के द्वारा वर्णित परमात्मा **वै**- ही है।

व्याख्या-

साक्षात् परमात्मा के द्वारा की गयी ब्रह्मापर्यन्त सृष्टि को समष्टि सृष्टि कहते हैं और ब्रह्मा के द्वारा की गयी सृष्टि को व्यष्टि सृष्टि कहते हैं। परमात्मा ने ब्रह्माण्ड सृष्टि से पहले जल की रचना की, उसमें बीजरूप सामर्थ्य को स्थापित किया। वह बीज सुवर्ण के समान कान्ति वाला अण्ड बन गया। उसमें सभी लोकों के पितामह ब्रह्मा जी स्वयं प्रकट हुए- **अप[1] एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसम- प्रभम॥ तस्मिञ् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥**(म. स्मृ1.8-9) इस प्रकार व्यष्टि सृष्टि के पहले जलसे ब्रह्मा की उत्पत्ति

टिप्पणी- 1. अपां सृष्टिश्चेयं महदहंकारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या (म.मु.1.8)।

वर्णित है। सभी की उत्पत्ति भगवान् के संकल्प से होती है। ब्रह्मा की उत्पत्ति भी उनके संकल्प से रुद्रादि की उत्पत्ति के पहले होती है। हृदय गुहा में प्रवेश करके निवास करने वाले देहेन्द्रियादि से युक्त चतुर्मुख को ''यह सम्पूर्ण व्यष्टि सृष्टि का कर्ता हो।'' इस प्रकार अनुग्रह करके उसे देखा। परमात्मा ने हिरण्यगर्भ को पूर्व में उत्पन्न किया - **हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।** (श्वे.उ.3.4) परमात्मा ने उत्पन्न होते हुए ब्रह्मा को देखा- **हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्** (श्वे.उ.4.12)। पूर्व में प्राप्यरूप से कहा गया परम पद इस मन्त्र से प्रतिपाद्य सृष्टिकर्ता परमात्मा है।

परमात्मा के सृष्टिकर्तृत्व के पश्चात् उसके जीवात्मशरीरकत्व का वर्णन किया जाता है -

जीवात्मा का आत्मा परमात्मा

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत॥ एतद् वै तत्॥7॥

अन्वय-

या देवतामयी अदितिः प्राणेन सम्भवति। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिः व्यजायत। तद् एतद् वै।

अर्थ-

या- जो **देवतामयी-** इन्द्रिय के अधीन भोगवाला **अदितिः-** कर्मफल का भोक्ता जीव **प्राणेन-** प्राण के साथ **सम्भवति-** रहता है। और **गुहाम्-** हृदय गुहा में **प्रविश्य-** प्रवेश करके **तिष्ठन्ती-** रहने वाला **या-** जो **भूतेभिः-** पृथ्वी आदि भूतों के साथ **व्यजायत-** देव, मनुष्यादि विविध रूपों में उत्पन्न होता है। **तद्-** पूर्व में प्राप्य कहा गया परमपद ब्रह्म **एतद्-** इस मन्त्र में प्रतिपाद्य जीवात्मा का अन्तरात्मा **वै-** ही है।

व्याख्या–

कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा को अदिति कहते हैं– **अत्ति भुङ्क्ते कर्मफलानि इति अदितिः कर्मफलभोक्ता जीवः।** जीवात्मा इन्द्रिय और प्राण के साथ शरीर के अन्तर्गत हृदयगुहा में रहता है। वह शरीररूप में परिणत पृथ्वी आदि भूतों से युक्त होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्षादि विविधरूपों में उत्पन्न होता है। जीवात्मा नित्य है इसलिए उसके साथ नूतन देह का जो संयोग होता है, उसे ही उत्पन्न होना कहा जाता है। इसी अभिप्राय से **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।** (तै.उ.3.1.2) इत्यादि श्रुतियाँ प्रवृत्त होती हैं। पूर्व में प्राप्यरूप से कथित परमात्मा इस मन्त्र में वर्णित जीवात्मा का अन्तरात्मा है। **एतद् वै तत्** यहाँ तत् शब्द परमात्मस्वरूप को कहता है और एतत् शब्द इस मन्त्र में वर्णित जीवात्मस्वरूप को। जीवात्मा परमात्मा के ही आश्रित रहता है, वह उसका अपृथक्सिद्ध विशेषण है और परमात्मा विशेष्य है। जीवात्मा परमात्मा का शरीर है, परमात्मा शरीरी है। शरीर शरीरी का अपृथक्सिद्ध विशेषण होता है। अपृथक्सिद्ध विशेषणवाचक शब्द अपने अर्थ का बोध कराते हुए उसके आश्रय का भी बोध कराते हैं। गो का अपृथक्सिद्ध विशेषण गोत्व है। जैसे गोत्व विशेषण का वाचक गो शब्द गोत्व अर्थ का बोध कराते हुए उसके आश्रय गो व्यक्ति का भी बोध कराता है, वैसे ही यहाँ जीवात्मा का वाचक एतद् शब्द जीवात्मा का बोध कराते हुए उसके आश्रय अन्तरात्मा परमात्मा का भी बोध कराता है। जीवात्मशरीरक (जीवात्मारूप शरीर वाला) अर्थात् जीवात्मा का आत्मा (नियन्ता) ब्रह्म है।

प्रापक जीवात्मशरीरक परमात्मा को कहकर अब अग्निशरीरक परमात्मा को कहते हैं–

अग्नि की आत्मा परमात्मा

अरण्योः निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्[1] सुभृतोः गर्भिणीभिः।

टिप्पणी– 1.'इव सुभृतः' इति पाठान्तरः।

दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिरग्निः॥
एतद् वै तत्॥8॥

अन्वय-

गर्भिणीभिः सुभृतः गर्भः इव इत् जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः दिवे दिवे ईड्यः अग्निः जातवेदाः अरण्योः निहितः। तत् एतद् वै।

अर्थ-

गर्भिणीभिः- गर्भवती स्त्रियों के द्वारा **सुभृतः**- सुपोषित **गर्भः**- गर्भ के **इव**- समान **इत्**- ही **जागृवद्भिः**- जागरूक **हविष्मद्भिः**- हविष् प्रदान करने वाले **मनुष्येभिः**- ऋत्विकों के द्वारा **दिवे दिवे**- प्रतिदिन **ईड्यः**- आराध्य **अग्निः**- ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराने वाली **जातवेदाः**- अग्नि **अरण्योः**- उत्तर अरणि[1] और अधर अरणि के मध्य में **निहितः**- स्थित है। **तद्**- पूर्व में प्राप्यरूप से निर्दिष्ट परब्रह्म **एतद्**- अग्निशरीरक **वै**- ही है।

व्याख्या-

जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रियाँ उचित खाद्य और पेय पदार्थों के सेवन से गर्भ का अच्छी प्रकार से पोषण करती हैं, उसी प्रकार याज्ञिक जागरूक होकर प्रतिदिन घृत आदि हविष से अग्नि की आराधना करते हैं। आराधित अग्नि ऊर्ध्व गति को प्राप्त कराने वाली होती है- **अग्रम् ऊर्ध्वं नयतीति अग्निः।** वह दोनों अरणियों के मध्य में स्थित होती है। अग्नि का अन्तरात्मा परमात्मा ही पूर्व में प्राप्य परम पद कहा गया है।

अग्निशरीरक परमात्मा को कहने के बाद सूर्यादिसर्वदेव शरीरक परमात्मा को कहते हैं -

....

टिप्पणी- 1. जिस काष्ठ का मन्थन करके अग्नि निकाली जाती है, उसे अरणि कहते हैं। ऊपर के काष्ठ को उत्तर अरणि और नीचे के काष्ठ को अधर अरणि कहते हैं।

देवताओं की आत्मा परमात्मा

यतश्चोदेति सूर्यो अस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवास्सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥ एतद् वै तत्॥ 9॥

अन्वय-

यतः सूर्यः उदेति च यत्र अस्तं गच्छति च। सर्वे देवाः तम् अर्पिताः तद् कश्चन अत्येति उ न। तद् एतद् वै॥

अर्थ-

यतः- जिस परब्रह्म से **सूर्यः**- सूर्य **उदेति**- उदय होता है **च**- और **यत्र**- जिस परब्रह्म में (वह) **अस्तम्**- अस्त होने को **गच्छति**- जाता है। **सर्वे**- सभी **देवाः**- देवता **तम्**- उस पर ब्रह्म को **अर्पिताः**- समर्पित हैं **तद्**- उस परब्रह्म का **कश्चन**- कोई **अत्येति**- अतिक्रमण कर सकता **उ**- ही **न**- नहीं है। **तत्**- पूर्व में प्राप्य कहा गया परम पद **एतद्**- सूर्यादि सभी देवताओं का आश्रय परमात्मा **वै**- ही है।

व्याख्या-

सृष्टिकाल में सूर्य का उदय जिस परब्रह्म से होता है और लयकाल में अस्त जिसमें होता है तथा प्रतिदिन सूर्य का उदय और अस्त जिस परमात्मा में होता है। इन्द्र, वरुण आदि देवता भी उसी में समर्पित हैं क्योंकि वह इनकी भी आत्मा है और आत्मा होने से आधार है। सबके आधार परमात्मा का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र रहने में कोई भी समर्थ नहीं है। पूर्व में प्राप्यरूप से कहा गया सभी देवताओं का आधार परमात्मा ही है। सभी उनके अनुशासन में रहते हैं। वे सभी के स्वामी हैं, कोई उनकी महिमा का पार नहीं पा सकता।

पूर्व के मन्त्रों में ऋत्विकों के आराध्य, हृदय गुहा में स्थित, इस लोक के जीवों के आत्मा तथा दूसरे लोक के देवताओं के भी आत्मा परमात्मा का वर्णन किया। देशभेद से और कालभेद से परमात्मा भिन्न

होंगे, एक नहीं, इस शंका का निराकरण करने के लिए मन्त्र प्रस्तुत होता है –

एक परमात्मा ही सबकी आत्मा

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥10॥

अन्वय-

इह यद् एव, तद् अमुत्र। यद् अमुत्र। तद् अनु इह, यः इह नाना इव पश्यति, सः मृत्योः मृत्युम् आप्नोति।

अर्थ-

इह- इस लोक में **यद्**- जो परब्रह्म **एव**- ही हम सबकी आत्मा है। **तद्**- वह ही **अमुत्र**- दूसरे लोक में स्थित प्राणियों की आत्मा है। **यद्**- जो परब्रह्म **अमुत्र**- दूसरे लोक में स्थित प्राणियों की आत्मा है। **तद्**- वह **अनु**- ही **इह**- इस लोक में स्थित प्राणियों की आत्मा है। **यः**- जो **इह**- परब्रह्म में **नाना**[1]- भेद **इव**- जैसा **पश्यति**- देखता है। **सः**- वह **मृत्योः**- मृत्यु से **मृत्युम्**- मृत्यु को **आप्नोति**- प्राप्त करता रहता है।

व्याख्या-

जो परब्रह्म इस लोक में विद्यमान जीवों की आत्मा है। वही परलोक में स्थित जीवों की आत्मा है। **यदेवेह तदमुत्र** के अर्थवाले **यदमुत्र तदन्विह** इन शब्दों का प्रयोग उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिए किया गया है। **नानेव पश्यति** यहाँ पर इव शब्द के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि परब्रह्म का वास्तव में भेद नहीं है। यदि परमात्मा भिन्न (नाना) होता तो उसमें भेद होता किन्तु ऐसा नहीं है बल्कि सभी का आत्मा परमात्मा एक ही है अतः उसमें भेद नहीं है। परमात्मा में भेद न होने पर जो भेद को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् पुनः पुनः

टिप्पणी- 1. नानात्वम् इत्यर्थः।

अत्यन्त दु:खप्रद संसार में आता है।

परमात्मा के अनेकत्व का निराकरण करने के लिए यह मन्त्र प्रवृत्त होता है। इससे जगत् को मिथ्या समझना सभी प्रमाणों से विरुद्ध है। यहाँ पूर्वपर प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि उक्त नानात्वनिषेधक श्रुति जगत् के असत्त्व का प्रतिपादन नहीं करती, अत: उससे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा सभी का आत्मा है, तो हम सब उसका अनुभव क्यों नहीं कर पाते? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है–

विशुद्ध मन से परमात्मा का साक्षात्कार

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन
मृत्योस्स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥11॥

अन्वय–

इदं मनसा एव आप्तव्यम्। इह किञ्चन नाना न अस्ति। य: इह नाना इव पश्यति। स: मृत्यो: मृत्युं गच्छति।

अर्थ–

इदम्– सब का अन्तर्यामी ब्रह्म **मनसा**– विशुद्ध मन से **एव**– ही **आप्तव्यम्**– साक्षात्कार करने योग्य है। **इह**– परब्रह्म में **किञ्चन**– कुछ (थोड़ा भी) **नाना**– भेद **न**– नहीं **अस्ति**– है। **य:**– जो **इह**– परमात्मा में **नाना**– भेद **इव**– जैसा **पश्यति**– देखता है। **स:**– वह **मृत्यो:**– मृत्यु के समान भयंकर संसार से (मरकर और अधिक) **मृत्युम्**– संसार को **गच्छति**– प्राप्त करता है।

व्याख्या–

हम सबका अन्तर्यामी ब्रह्म विशुद्ध मन से ही साक्षात्कार करने योग्य है, अशुद्ध मन से उसका साक्षात्कार नहीं होता। रागद्वेषादि मन की

अशुद्धियाँ हैं, इनका भी मूल रजोगुण और तमोगुण है। शास्त्रविहित निष्काम कर्म के आचरण से सत्त्वगुण की वृद्धि से इनकी निवृत्ति होने पर जब मन शुद्ध हो जाता है, तब उसमें साक्षात्कार करने की योग्यता आती है। मन के अशुद्ध रहते कोई भी उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी बात को पूर्व में **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या** (क.उ.1.3.12) इस प्रकार कहा था। पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित अर्थ को दृढ़ करने के लिए **नेह नानास्ति किञ्चन** इत्यादि कहा जाता है।

ब्रह्म का अभेद- ब्रह्म में अल्प भी भेद नहीं है, जो सबके आधार, सबके आराध्य, सबके अन्तरात्मा ब्रह्म में अल्प भी भेद समझता है, वह मुक्त नहीं हो सकता बल्कि उत्तरोत्तर दुःखद संसार को प्राप्त करता रहता है। सबका आधार, सबका आराध्य, सबका अन्तर्यामी परमात्मा एक है, ऐसा सामान्य जन नहीं समझ पाते। आजकल तो वर्ग भेद, सम्प्रदाय भेद और देश भेद से परमात्मा को भिन्न समझते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन काल में अशान्ति की अग्नि से झुलसते रहते हैं और मरकर अत्यन्त दुर्गति को प्राप्त होते हैं। सभी देश और सभी काल में विद्यमान सभी प्राणियों का अन्तरात्मा एक ब्रह्म है, इस प्रकार जो ब्रह्म के अभेद को जानता है, वही वस्तुतः संसार चक्र से पार होता है। **तद् धैतद् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।** (बृ.उ.1.4.10) इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता वामदेव द्वारा सर्वात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार सुना जाता है।

ब्रह्मात्मक जगत् का सत्यत्व- चेतनाचेतन सभी के अन्तरात्मा ब्रह्म भिन्न भिन्न नहीं हैं अपितु उन सभी का अन्तरात्मा एक ब्रह्म ही है, इसलिए ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं है, ऐसा **नेह नानास्ति किञ्चन** का अर्थ होता है। यह वाक्य जगत् का निषेध करने वाला नहीं है। यदि होता तो इसके आगे **ईशानो भूतभव्यस्य** (क.उ.2.1.12) इस प्रकार सर्वकालवर्ती पदार्थों (जगत्) के शासकरूप से ब्रह्म का कथन नहीं होता। सत्य पदार्थों के होने पर ही उसके सत्य शासक का कथन होता है।

अब्रह्मात्मक जगत् का निषेध-

विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (अ.सू.5.2.27) इस सूत्र के द्वारा नञ् शब्द से नाञ् प्रत्यय करने पर नाना शब्द निष्पन्न होता है। पृथक् अर्थ वाले वि और नञ् शब्दों से क्रमशः ना और नाञ् प्रत्यय होते हैं- **विनञ् इति एताभ्यामसहवाचिभ्यां नानाञौ भवतः।** (म.भा.5.2.27) इस प्रकार महाभाष्यकार के अनुसार नाना का पृथक् अर्थ होता है। तब **इह**- जगत् में **नाना**- ब्रह्म से पृथक् (स्वतन्त्र) **किञ्चन**- कोई वस्तु **न**- नहीं है, ऐसा उक्त श्रुति का अर्थ होता है। जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और इनके आश्रय द्रव्य भिन्न ही होते हैं, एक नहीं होता क्योंकि आधेय-आधार, आश्रयी-आश्रय और विशेषण-विशेष्य भिन्न ही होते हैं, इनमें स्वरूप-एकता नहीं होती तथापि रूपादि अपने आश्रय से पृथक् नहीं रहते, अपृथक् ही रहते हैं। अपृथक् रहने के कारण ही उनसे विशिष्ट पदार्थ का अभेद होता है। वैसे ही चेतनाऽचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् और उसका आश्रय ब्रह्म भिन्न ही है, एक नहीं तथापि जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं रहता, अपृथक् ही रहता है इसलिए उक्त श्रुति अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र (पृथक्) वस्तु का निषेध करती है। चेतनाचेतन सभी पदार्थ ब्रह्म के शरीर हैं, शरीरी परमात्मा उसकी आत्मा है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृ.उ.3.7) के अनुसार चेतनाचेतन सभी शरीर में स्थित होकर नियमन करने वाले अन्तर्यामी परमात्मा हैं। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता येषाम् ते ब्रह्मात्मकाः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म के द्वारा नियाम्य उनके शरीरभूत सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं। वे ब्रह्म से अपृथक् ही रहते हैं किन्तु अज्ञानी व्यक्ति ऐसा नहीं समझता, वह सभी को अब्रह्मात्मक (स्वतन्त्र) समझता है। **नेह नानास्ति किञ्चन्** यह श्रुति ऐसे अब्रह्मात्मक नाना वस्तुओं का निषेध करती है, शास्त्रसिद्ध ब्रह्मात्मक नाना वस्तुओं का निषेध नहीं करती। अतः **मृत्योः स मृत्युं गच्छति** यह श्रुति वाक्य भी स्वतन्त्र भेददर्शन की ही निन्दा करता है, ब्रह्मात्मक भेद दर्शन की निन्दा नहीं करता। उक्त श्रुति बृहदारण्यकोपनिषत् (4.4.19) में भी उपलब्ध होती है। **नेह नानास्ति** श्रुति सबका निषेध नहीं करती क्योंकि सबका निषेध मानने पर **सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः एष सेतुर्विधरणः।** (बृ.उ.4.4.22) इस प्रकार आगे वर्णित ब्रह्म

के सत्यसंकल्पत्व, सर्वेश्वरत्व, स्वामित्व और धारकत्वादि गुणों का वर्णन व्यर्थ होगा , अतः वह अब्रह्मात्मक अर्थात् स्वतन्त्र वस्तु का निषेध करती है। चेतन और अचेतन सभी परमात्मा के शरीर हैं। इन सभी शरीररूप प्रकारों वाला एक परमात्मा ही सभी रूपों में स्थित है। अब्रह्मात्मक भेद इस एकता का विरोधी है अतः श्रुति इसका ही निषेध करती है। चेतनाऽचेतन सभी ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं, इनसे विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत ही श्रुति-सूत्र प्रतिपादित है। चेतन आत्मा ब्रह्म का अंश है क्योंकि उसके भेद का प्रतिपादन है और विशिष्ट की एकता होने से अभेद का भी प्रतिपादन है। वेद की एक शाखा विशेष के अध्ययनकर्ता ब्रह्म को दाश, कितव आदि भी पढ़ते हैं- **अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके** (ब्र.सू. 2.3.42)। इस प्रकार सविशेष ब्रह्म का अभेद ही ब्रह्मसूत्रकार को इष्ट है, इस रहस्य को न समझने से ही जगत् को मिथ्या कह कर बौद्ध सम्मत निर्विशेष वस्तु की कल्पना की जाती है।

ब्रह्मात्मक जगत्- हिरुङ् नाना च वर्जने (अ.को. 3.4.3) इसके अनुसार नाना का वर्जन अर्थात् विना अर्थ होता है, तब प्रस्तुत श्रुति का अर्थ होता है- इस जगत् में ब्रह्म के विना कोई वस्तु नहीं है, सब ब्रह्मके अविनाभूत हैं, इसलिए ब्रह्म के विना अर्थात् उनको छोड़कर कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं रह सकती। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि वह कोई चराचर वस्तु नहीं है, जो मेरे विना हो- **न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्।**(गी.10.39)

परमात्मा के विशुद्धमनोग्राह्यत्व का वर्णन करके उसके एकत्व की दृढ़ता के लिए नानात्व का निषेध करके अब हृदयस्थ अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले परमात्मा का वर्णन करते हैं -

हृदयस्थ परमात्मा का अङ्गुष्ठमात्र परिमाण

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

एतद् वै तत्॥12॥

अन्वय-

भूतभव्यस्य ईशानः पुरुषः अङ्गुष्ठमात्रः आत्मनि मध्ये तिष्ठति। ततः न विजुगुप्सते। तद् एतद् वै।

अर्थ-

भूतभव्यस्य- भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में होने वाले चेतनाचेतन सभी पदार्थों का **ईशानः-** नियन्ता **पुरुषः-** परम पुरुष **अङ्गुष्ठमात्रः-** अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला होकर **आत्मनि-** शरीर के अन्तर्गत **मध्ये-** हृदय में **तिष्ठति-** रहता है। सबका स्वामी होने के कारण **ततः-** वात्सल्य होने से किसी से **न विजुप्सुते-** घृणा नहीं करता है। **तत्-** पूर्व में प्राप्यरूप से वर्णित परम पद **एतद्-** हृदयस्थ परमात्मा **वै-** ही है।

व्याख्या-

तीनों कालों में होने वाले चेतनाऽचेतन सभी पदार्थों में व्याप्त होकर उन पर शासन करने वाले परमात्मा उपासकों की उपासना की सुविधा के लिए करुणावशात् सुहृद् होकर अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले दिव्यमङ्गलविग्रह को धारण करके शरीर के मध्यभाग हृदय कमल में स्थित रहते हैं। वे सबके स्वामी हैं इसलिए उनका सभी से वात्सल्य है अतः वे जीव के दोषों को भी अपना भोग्य समझते हैं। जैसे पिता मलिन और गुणहीन होने पर भी अपने पुत्र से प्रेम करता है, वैसे ही परमात्मा गुणहीन और दोषयुक्त होने पर भी सबसे प्रेम करते हैं इसलिए किसी से घृणा नहीं करते । हृदय का और हृदयस्थ परमात्मा के श्रीविग्रह का अङ्गुष्ठमात्र परिमाण होने से हृदयस्थ परमात्मा का भी अङ्गुष्ठमात्र परिमाण कहा जाता है। यही परमात्मा पूर्व में प्राप्य परम पद कहा गया है।

अब पुनः हृदयस्थ परमात्मा का वर्णन करते हुए उसे त्रिकालवर्ती पदार्थों का नियन्ता कहा जाता है-

हृदयस्थ परमात्मा सभी का नियन्ता

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥
एतद् वै तत्॥13॥

अन्वय-

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः अधूमकः ज्योतिः इव। सः एव अद्य भूतभव्यस्य ईशानः। सः उ श्वः। तद् एतद् वै।

अर्थ-

उपासक के हृदय में विराजमान **अङ्गुष्ठमात्रः**- अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला **पुरुषः**- परमात्मा **अधूमक**- धूमरहित (अग्नि के) **ज्योतिः**- प्रकाश के **इव**- समान है। **सः**- वह **एव**- ही **अद्य**- आज **भूतभव्यस्य**- भूत, वर्तमान और भविष्यकालिक चेतनाचेतन सभी का **ईशानः**- नियन्ता है (और) **सः**- वह **उ**- ही **श्वः**- कल सभी का नियन्ता होगा। **तद्**- पूर्व में प्राप्य कहा गया **एतद्**- यह परमात्मा **वै**- ही है।

व्याख्या-

उपासक के हृदय कमल में विराजमान अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले दिव्यमङ्गलविग्रह से विशिष्ट परमात्मा धूमरहित अग्नि के उज्वल प्रकाश के समान हैं। इस प्रकार ध्यान के लिए हृदयस्थ परमात्मा का वर्णन किया जाता है। वह ही पूर्व में त्रिकालवर्ती चेतनाचेतन सभी का नियन्ता था, वर्तमान में नियन्ता है और भविष्य में भी नियन्ता रहेगा अथवा वह परमात्मा कल था **सः**- वह परमात्मा **एव**- ही **अद्य**- आज है और **सः**- वह परमात्मा **उ**- ही **श्वः**- कल होगा, इस प्रकार काल से अपरिच्छिन्न (तीनों कालों में रहने वाले) परमात्मा का वर्णन किया जाता है। पूर्व में प्राप्यरूप से वर्णित परम पद इस मन्त्र से प्रतिपाद्य त्रिकालवर्ती पदार्थों का शासक, धूमरहित अग्नि के समान उज्ज्वल

प्रकाश वाले दिव्यमङ्गल विग्रह से विशिष्ट हृदयस्थ परमात्मा है।

चेतनाऽचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् के एक परमात्मा को न जानने का फल कहा जाता है–

परमात्मैकत्व ज्ञान न होने से अनिष्ट

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक्पश्यंस्तानेवाऽनु विधावति॥14॥

अन्वय–

यथा दुर्गे वृष्टम् उदकम् पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यन् तान् एव अनु विधावति।

अर्थ–

यथा– जिस प्रकार **दुर्गे**[1]– पर्वत शिखर में **वृष्टम्**– बरसा **उदकम्**– जल **पर्वतेषु**– निम्न पर्वतीय स्थलों में **विधावति**– विविध प्रकार का होकर जाता है। **एवम्**– इसी प्रकार **धर्मान्**– देवान्तर्यामित्व, मनुष्यान्तर्यामित्व, सर्वात्मत्व, भूतभव्य का शासकत्व आदि धर्मों को **पृथक्**– भिन्न भिन्न आश्रय में **पश्यन्**– जानते हुए **तान्**– उनका **एव**– ही **अनु**– अनुसरण करके **विधावति**– देव, मनुष्यादि योनियों में जाता है।

व्याख्या–

जैसे ऊँचे पर्वत के शिखर पर बरसा हुआ जल नीचे के पर्वतीय स्थलों में झरना, नदी आदि होकर बहता रहता है, वैसे ही परमात्मा में विद्यमान देवान्तर्यामित्व मनुष्यान्तर्यामित्व, सर्वान्तर्यामित्व आदि धर्मों को एक परमात्मा में न समझकर देव, मनुष्य आदि भिन्न–भिन्न आश्रयों में समझते हुए उन धर्मों का ही अनुसरण करके देव,

---

टिप्पणी – 1. उन्नतस्थाने पर्वतशिखर इत्यर्थः (प्रदी.)।

मनुष्यादि योनियों में जाता है अर्थात् पुनः पुनः संसार सागर में प्रवेश करता रहता है[1]।

पूर्व में परमात्मैकत्वज्ञान से रहित मनुष्य को दुर्गति की प्राप्ति का वर्णन करके अब पूर्व में वर्णित सभी धर्मों के आश्रय एक परमात्मा के ज्ञान का फल कहा जाता है-

परमात्मैकत्वज्ञान से मोक्ष

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम!॥15॥
॥ इति प्रथमा वल्ली ॥

अन्वय-

गौतम! यथा शुद्धे आसिक्तम् उदकं तादृग् शुद्धम् एव भवति। एवं विजानतः मुनेः आत्मा भवति।

अर्थ-

गौतम- हे गौतमवंशी नचिकेता **यथा**- जिस प्रकार **शुद्धे**- शुद्ध जल में **आसिक्तम्**- मिलाया गया **उदकम्**- शुद्ध जल **तादृग्**- शुद्ध जल के समान **शुद्धम्**- शुद्ध **एव**- ही **भवति**- होता है। **एवम्**- इसी प्रकार **विजानतः**- "देव, मनुष्यादि का अन्तर्यामी, सभी का अन्तर्यामी और सभी का आधार परमात्मा एक है।" इस प्रकार परमात्मा के एकत्व को जानने वाले और **मुनेः**- मनन करने वाले मुमुक्षु की **आत्मा**- आत्मा परमात्मसाक्षात्कार से विशुद्ध (अविद्यादोष से रहित) होकर विशुद्ध परमात्मा के समान **भवति**- होती है।

व्याख्या-

जैसे शुद्ध जल में मिलाया शुद्ध जल अधिकरण जल के समान शुद्ध ही होता है, वैसे ही देव,मनुष्य आदि का अन्तर्यामी और हृदयस्थ

टिप्पणी - 1. इसका तात्पर्य है कि अज्ञानी मनुष्य देव, मनुष्यादि के अर्न्तयामी सर्वाधार परमात्मा को नहीं जानता है, उन्हे स्वतन्त्र जानता है इसलिए पुनः पुनः देव, मनुष्यादि योनियों में जाता है।

परमात्मा एक ही है। इस प्रकार परमात्मा के अभेद को जानने वाले और मनन करने वाले की आत्मा परमात्मसाक्षात्कार से विशुद्ध होकर विशुद्ध परमात्मा के समान हो जाती है। मुक्तात्मा प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर परमात्मा के साथ परम समता को प्राप्त होता है– **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।** (मु.उ.3.1.3) ऐसा मुण्डक श्रुति भी कहती है। मोक्षावस्था में जीवात्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भाव से उसकी परमात्मा के साथ समता होती है। जैसे एक जल और दूसरे जल की स्वरूप–एकता नहीं होती, वैसे ही आत्मा और परमात्मा की स्वरूप–एकता नहीं हो सकती। प्रस्तुत कठ श्रुति में तादृश् शब्द का प्रयोग है, तद्भाव शब्द का प्रयोग नहीं है। तादृश् शब्द के प्रयोग से दोनों की समता कही जाती है। मुक्तावस्था में उपाधि का अभाव होने पर उक्त वचनों से सिद्ध जीवात्मा और परमात्मा का भेद औपाधिक नहीं हो सकता, स्वाभाविक ही है। इस प्रकार सभी में विद्यमान एक परमात्मा के साक्षात्कारात्मक ज्ञान का फल ब्रह्म का साधर्म्यरूप मोक्ष होता है। इसे **इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च** (गी.14.2) इस प्रकार भगवद्गीता स्पष्ट शब्दों में कहती है। पूर्वमन्त्र में **एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्** इस प्रकार देवान्तर्यामित्व आदि धर्मों को पृथक् आश्रयों में देखने से होने वाली दुर्दशा का वर्णन किया था। इससे स्पष्ट है कि उनको एक परमात्मा में ही देखने से अर्थात् सविशेष अद्वैत परमात्मा के साक्षात्कार से ही मोक्षप्राप्ति का कठोपनिषत् प्रतिपादन करता है। निर्विशेष का वर्णन श्रुतियों में कहीं नहीं है।

प्रथम वल्ली की व्याख्या समाप्त

द्वितीया वल्ली

ब्रह्मात्मक आत्मा

हरिः ओम्॥
पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥
एतद् वै तत्॥1॥

अन्वय-

अजस्य अवक्रचेतसः एकादशद्वारं पुरम्। अनुष्ठाय न शोचति च विमुक्तः विमुच्यते। एतद् तद् वै।

अर्थ-

अजस्य- जन्मादि विकारों से रहित **अवक्रचेतसः**- सरलचित्त अर्थात् विवेकी मुमुक्षु आत्मा का **एकादशद्वारम्**- एकादश द्वार वाला **पुरम्**- शरीरनामक पुर है। इसी में विद्यमान अपने अन्तरात्मा ब्रह्म की **अनुष्ठाय**- उपासना करके **न शोचति**- शोक नहीं करता है। **च**- और **विमुक्तः**- दुःखों तथा रागद्वेषादि से मुक्त होकर (प्रारब्ध भोग के समाप्त होने पर) **विमुच्यते**- प्रकृति के सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। **एतद्**- इस मन्त्र से प्रतिपाद्य आत्मस्वरूप **तत्**- ब्रह्म **वै**- ही है।

व्याख्या-

आत्मा नित्य है, अनादि काल से विद्यमान है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती और अचेतन पदार्थ में होने वाले अन्य विकार भी आत्मा के नहीं होते। इसका विस्तार तत्त्वत्रय ग्रन्थ की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में देखना चाहिए। भोगकामना भी एक प्रकार की कुटिलता है, इसके होने से चित्त वक्र अर्थात् कुटिल हो जाता है, उससे रहित सरल अर्थात् शान्त-एकाग्र चित्त वाला मुमुक्षु होता है। उसके रहने का पुर यह दृश्यमान शरीर है। पूर्व में **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च** (क. उ.1.3.3)। इस प्रकार शरीर को रथ और आत्मा को रथ का स्वामी कहा था, अब यहाँ शरीर को पुर (नगर) कहा जाता है। आत्मा उसका स्वामी है। शरीर के 11 द्वार होते हैं- 2 नेत्र के छिद्र, 2 श्रोत्र के छिद्र, 2 नासिका छिद्र और 1 मुख ये 7 द्वार मुखमण्डल में स्थित होते हैं, 1 नाभि, 1 गुदा (मलद्वार) और 1 उपस्थ (मूत्रद्वार) ये 3 द्वार मध्यभाग में होते हैं तथा शिर में स्थित 1 ब्रह्मरन्ध्र। मूर्धा और नाभि के छिद्र अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। गीता इनको छोड़कर अन्य 9 द्वारों का **नवद्वारे पुर देही** (गी.5.13) इस प्रकार वर्णन करती है। जैसे नगर का स्वामी नगर के द्वार से बाहर जाता है, वैसे ही शरीररूप पुर का स्वामी जीवात्मा

प्रयाणकाल में कर्मानुसार किसी भी द्वार से बाहर निकल कर लोक-लोकान्तर में जाता है। जैसे नगर में राजा के सहयोगी कर्मचारी रहते हैं, वैसे ही इस पुर में आत्मा की सहयोगी इन्द्रियाँ रहती हैं और जैसे नगर में उसके रक्षक द्वारपाल नियुक्त होते हैं। वैसे ही शरीर में इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता नियुक्त होते हैं। कर्मचारी और द्वारपालों के समुचित होने पर ही नगर का स्वामी अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं। जैसे कर्मचारी राजा को विविध प्रकार के उपहार अर्पित करते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ आत्मा को विविध विषय अर्पित करती हैं। पूर्व में **गुहाहितम्** (क.उ.1.2.12) इस प्रकार हृदय में ब्रह्म की स्थिति कही गयी थी और **सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ** (क.उ.1.3.1) इस प्रकार हृदय में आत्मा के साथ ब्रह्म की स्थिति कही गयी। इसके अनन्तर **अङ्गुष्ठमात्रः** (क.उ.2.1.12-13) इस प्रकार भी शरीर में ब्रह्म की विद्यमानता का प्रतिपादन किया गया। शरीररूप पुर में आत्मा राजा के समान रहती है और ब्रह्म महाराजा के समान। देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण आत्मा जीवनकाल में अपने अन्तरात्मा ब्रह्म की साक्षात्कारात्मक उपासना करके शोक (दुःख) से पार हो जाती है। आध्यात्मिक, आधि दैविक और आधिभौतिक ये त्रिविध दुःख होते हैं और इनका कारण होता है- रागद्वेष। ब्रह्मसाक्षात्कार से जीवन रहते ही प्रत्यगात्मा दुःख तथा रागद्वेषादि से मुक्त हो जाता है और प्रारब्धकर्मभोग के अवसान काल में अर्चिरादि से जाकर प्रकृति के सम्बन्ध से भी मुक्त हो जाता है। इस मन्त्र से प्रतिपाद्य पूर्व में बद्धावस्था वाली तथा बाद में मुक्तावस्था वाली आत्मा ब्रह्मात्मक ही है। इस मन्त्र में **एतद् वै तत्** यहाँ पर तत् पद से **तद् विष्णो परमं पदम्** (क.उ.1.3.9) इस प्रकार पूर्व में प्राप्यरूप से वर्णित विष्णु (ब्रह्म) के स्वरूप का ग्रहण होता है। तत् पद से प्राप्य ब्रह्म को लेने पर इस मन्त्र में प्रतिपादित जो आत्मा है, उसका वाचक एतद् शब्द आत्मा का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराता है, इस प्रकार "**तत्**- पूर्व में प्राप्यरूप से कहा गया ब्रह्म **एतद्**- इस मन्त्र से प्रतिपाद्य आत्मा का अन्तरात्मा **वै**- ही है।" यह अर्थ संभव होता है किन्तु अन्तरात्मा ब्रह्म का प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है अतः यहाँ ब्रह्म का बोधक तत् पद तदात्मक (ब्रह्मात्मक) अर्थ का बोध

कराता है, तब **एतद्**- इस मन्त्र से प्रतिपाद्य आत्मा **तत्**- ब्रह्मात्मक **वै**- ही है। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य यः ब्रह्मात्मकः।** इस प्रकार ब्रह्मात्मक का अर्थ होता है- ब्रह्म का नियाम्य, आधेय और शेषभूत शरीर। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चेतन-अचेतन शरीर के वाचक शब्द शरीरी ब्रह्म का शक्ति वृत्ति से ही बोध कराते हैं और ब्रह्म के वाचक शब्द चेतनाचेतन का लक्षणा से बोध कराते हैं। क्षेत्रज्ञ आत्मा को भी मदात्मक (ब्रह्मात्मक) जानो- **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** (गी.13.2) इस गीतावचन में माम् का अर्थ मदात्मक है, वैसे ही प्रस्तुत कठश्रुति में तत् का अर्थ तदात्मक किया गया है। बद्ध और मुक्त सभी आत्माएं ब्रह्मात्मक ही हैं।

आत्मा के ब्रह्मात्मकत्व को कहकर अब अन्य पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्व कहा जाता है।

ब्रह्मात्मक सूर्यादि

हंसश्शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥2॥

अन्वय-

शुचिषद् हंसः अन्तरिक्षसद् वसुः वेदिषद् होता दुरोणसत् अतिथिः नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जाः गोजाः ऋतजाः अद्रिजाः बृहत् ऋतम्।

अर्थ-

शुचिषद्- आकाश में विद्यमान **हंसः**- सूर्य **अन्तरिक्षसद्**- अन्तरिक्ष में वर्तमान **वसुः**- वायु **वेदिषद्**- वेदी में विद्यमान **होता**- ऋत्विक् **दुरोणसत्**- घर में आया **अतिथिः**- अतिथि **नृषद्**- मनुष्य शरीर में विद्यमान आत्मा **वरसद्**- देवशरीर में विद्यमान आत्मा **ऋतसद्**- सत्यलोक में विद्यमान आत्मा **व्योमसद्**- परमपद (अप्राकृत लोक) में

विद्यमान आत्मा, **अब्जाः**- जल से उत्पन्न प्राणी **गोजाः**- भूमि से उत्पन्न घास आदि **ऋतजाः**[1]- आकाश से उत्पन्न शब्द अथवा यज्ञ से प्राप्त स्वर्ग **अद्रिजाः**- पर्वत से उत्पन्न नदी, झरना, ये सभी **बृहत्**- अपरिच्छिन्न **ऋतम्**- ब्रह्म (ब्रह्मात्मक) हैं।

व्याख्या-

शुचि (पवित्र) अर्थात् निर्लेप। आकाश में रहने वाले को शुचिषद् कहते हैं- **शुचौ निर्लेप आकाशे सीदति वर्तत इति शुचिषद्।** वह कौन है? हंस अर्थात् सूर्य। सूर्य तम का हनन (नाश) करता है इसलिए उसे हंस कहते हैं- **तमः हन्ति नाशयतीति हंसः सूर्यः।** वायु सबको रखता है इसलिए उसे वसु कहते हैं- **सर्वान् वासयतीति वसुः वायुः।** यद्यपि वायु सर्वत्र रहता है फिर भी अन्तरिक्ष (आकाश) से (स्पर्शतन्मात्रा द्वारा) उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए वायु (कार्य) की आकाश (कारण) में स्थिति कही जाती है। उसके विना कोई भी प्राणध ारी जीवित नहीं रह सकता है। वही सब को जीवित रखने वाला है। सूर्य, वायु, यज्ञवेदी पर विद्यमान् ऋत्विक्, घर में आया अतिथि, देव-मनुष्यशरीर में और सत्यलोक में स्थित आत्मा, त्रिपादविभूति में विद्यमान आत्मा, जल से उत्पन्न शंख, शुक्ति, मीन, मकरादि, पृथ्वी से उत्पन्न घास, पेड़, लता, गेहूँ, धान आदि, आकाश से उत्पन्न शब्द अथवा यज्ञ से प्राप्त स्वर्ग और पर्वत से उत्पन्न नदी, झरने ये सभी अपरिच्छिन्नब्रह्मात्मक हैं। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यहाँ ऋत का पर्याय सत्य शब्द ब्रह्म का बोधक है इसलिए ऋत शब्द भी ब्रह्म का बोधक है। बृहद् ब्रह्म का विशेषण है। अपरिच्छिन्न जो ब्रह्म तदात्मक सूर्यादि सभी हैं। इस प्रकार यह श्रुति सूर्यादि सभी को ब्रह्मात्मक कहती है।

उपास्य ब्रह्म

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥3॥

टिप्पणी- 1. ऋत शब्द के आकाश और यज्ञ दोनों अर्थ हैं, इसलिए ऋतज के दो अर्थ किये जाते हैं।

अन्वय-

प्राणम् ऊर्ध्वं उन्नयति, अपानं प्रत्यग् अस्यति। मध्ये आसीनं वामनं विश्वे देवा उपासते।

अर्थ-

जो **प्राणम्**- प्राण वायु को **ऊर्ध्वं**- ऊपर की ओर **उन्नयति**- ले जाता है (और) **अपानम्**- अपान वायु को **प्रत्यग्**- नीचे की ओर **अस्यति** - फेंकता है। **मध्ये**- शरीर के मध्य हृदय कमल में **आसीनम्**- विराजमान उस **वामनम्**- भजनीय परमात्मा की **विश्वे**- सभी **देवाः**- सात्त्विक प्रकृति वाले **उपासते**- उपासना करते हैं।

व्याख्या-

परमात्मा सभी प्राणियों को जीवनप्रदान करने के लिए प्राण वायु को ऊपर की ओर ले जाते हैं और अपान वायु को नीचे की ओर ले जाते हैं। वे सभी प्राणियों के शरीर के मध्य भाग हृदय में विराजमान हैं। वह परमात्मा वामन अर्थात् भजनीय (भजन करने योग्य) है। हृदय स्थान वामन (छोटा) होने से उसमें विराजमान परमात्मा भी वामन कहे जाते हैं। **वामानि रमणीयानि गुणजातानि सन्ति अस्मिन्निति वामनः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार दया , वात्सल्य आदि रमणीय गुण वाले परमात्मा को वामन कहते हैं और **वामः दिव्यः सुन्दरो विग्रहोऽस्याऽस्तीति वामनः।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकर्षक, सुन्दर दिव्यमंगलविग्रह वाले परमात्मा को वामन कहते हैं। **दैवीसम्पद् विमोक्षाय** (गी.16.5) इस प्रकार भगवद्गीता में वर्णित दैवी सम्पद् (प्रकृति) वाले प्राणियों को इस मन्त्र में देव कहा गया है। हृदय कमल में विराजमान रमणीय गुण वाले, लोकोत्तरसुन्दर दिव्यमङ्गल विग्रह वाले भजनीय परमात्मा की सात्त्विक स्वभाव वाले सभी उपासना करते हैं।

ब्रह्मोपासक को ब्रह्मप्राप्ति में देहपात का ही विलम्ब होता है, उसका अन्य कुछ शेष नहीं रहता, इस विषय को कहते हैं-

ब्रह्मात्मक आत्मा का उपासक कृतार्थ

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद् वै तत्॥4॥

अन्वय-

विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहाद् विमुच्यमानस्य अस्य देहिनः अत्र किं परिशिष्यते। एतद् तत् वै।

अर्थ-

विस्त्रंसमानस्य- शिथिल शरीर में स्थित **शरीरस्थस्य**- पुष्ट शरीर में स्थित और **देहाद्**- देह से **विमुच्यमानस्य**- निकलने वाले **अस्य**- ब्रह्मोपासक **देहिनः**- आत्मा का **अत्र**- इस लोक में **किम्**- क्या **परिशिष्यते**- शेष रहता है? **एतद्**- इस मन्त्र में प्रतिपाद्य आत्मा **तत्**- ब्रह्म **वै- ही है।**

व्याख्या-

बाल्यावस्था और यौवनावस्था में शरीर पुष्ट रहता है तथा वृद्धावस्था में शिथिल, इसप्रकार देही आत्मा की शरीर में 2 प्रकार से स्थिति होती है- बाल्यावस्था और युवावस्था में पुष्ट शरीर में स्थिति तथा वृद्धावस्था में शिथिल शरीर में स्थिति। प्रयाणकाल आने पर वह **देहाद् विमुच्यमान** अर्थात् म्रियमाण (मरणोन्मुख) होता है। ब्रह्म की साक्षात्कारापन्न उपासना को करने वाला देही आत्मा किसी भी स्थिति में हो, उसे मोक्षप्राप्ति में उतना ही विलम्ब है, जब तक वह प्रारब्धजन्य इस शरीर से छूट नहीं जाता, इसके पश्चात् वह ब्रह्म को प्राप्त करता है- **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये** (छां.उ.6.14.2)। ब्रह्मोपासक का सर्वस्व ब्रह्म ही है, अतः उसकी कही जाने वाली कोई वस्तु इस लोक में नहीं रहती[1]। वह कृतकृत्य होता है अतः उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता

टिप्पणी - 1. देह से उत्क्रमण के पश्चात् 11 द्वार वाले उस देह के साथ भी ब्रह्मोपासक आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शरीर के प्रति आत्मा का शेषित्व (स्वामित्व) कर्म

और परिजनों के द्वारा किए जाने वाले श्राद्ध-तर्पण की भी अपेक्षा नहीं होती। इस मन्त्र से प्रतिपाद्य कृतकृत्य आत्मस्वरूप ब्रह्मात्मक ही है।

प्राणियों का जीवन प्राणों के अधीन है, यह लोकप्रसिद्ध कथन उचित नहीं है क्योंकि परमात्मा ही उनके जीवन का कारण है, इसे कहते है-

जीवनदाता परमात्मा

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥5॥

अन्वय-

कश्चन मर्त्यः प्राणेन न जीवति, अपानेन न, तु इतरेण जीवन्ति, यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ।

अर्थ-

कश्चन- कोई **मर्त्यः**- प्राणी **प्राणेन**- प्राणवायु से **न जीवति**- जीवित नहीं रहता है। (और) **अपानेन**- अपान वायु से **न**- जीवित नहीं रहता। **तु**- किन्तु **इतरेण**- अन्य के द्वारा (सभी प्राणी) **जीवन्ति**- जीवित रहते हैं। **यस्मिन्**- जिस परमात्मा में **एतौ**- प्राण और अपान **उपाश्रितौ**- आश्रय पाए हैं।

व्याख्या-

मृत्यु को प्राप्त होने वाले सभी प्राणी मर्त्य कहलाते हैं, उनका जीवन प्राण और अपान वायु के अधीन नहीं है तो वे किसके द्वारा जीवित रहते हैं? प्राण और अपान से भिन्न वस्तु के द्वारा जीवित रहते हैं, वह भिन्न वस्तु क्या है? प्राण और अपान वायु का जो आश्रय है,

उपाधि के कारण है इसलिए अस्थिर है किन्तु आत्मा के प्रति परमात्मा का शेषित्व स्वाभाविक है, अनिवर्त्य है अर्थात् आत्मा सदा रहती है, इसलिए उसके प्रति परमात्मा का शेषित्व भी सदा रहता है, इसे भी जानना चाहिए।

जिसके संकल्प से प्राण और अपान अपना-अपना कार्य करते रहते हैं तथा प्राण और अपान का जीवन भी जिसके अधीन है, उस परमात्मा से ही सभी प्राणी जीवित रहते हैं। प्राणों का जीवन परमात्मा के अधीन है इसलिए केनोपनिषत् उन्हें **प्राणस्य प्राणः** (के.उ.1.2) कहती है।

रहस्य के उपदेश की प्रतिज्ञा

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥6॥

अन्वय-

हन्त गौतम! इदं सनातनं गुह्यं ब्रह्म ते प्रवक्ष्यामि च मरणं प्राप्य आत्मा यथा भवति।

अर्थ-

हन्त- हर्ष है (कि) **गौतम**- हे नचिकेता **इदम्**- इस **सनातनम्**- सदा रहने वाले **गुह्यम्**- अति रहस्य **ब्रह्म**- ब्रह्मको **ते**- तेरे लिए (मैं पुनः) **प्रवक्ष्यामि**- कहूँगा। **च**- और **मरणं**- मृत्यु को **प्राप्य**- प्राप्त कर **आत्मा**- आत्मा **यथा**- जैसा (जिस प्रकार वाली) **भवति**- होतीा है, उसे भी कहूँगा।

व्याख्या-

इस मन्त्र में हन्त यह अव्यय पद हर्ष का सूचक है। ब्रह्मविद्या के उत्तम अधिकारी शिष्य को पाकर मृत्यु देवता हर्षित हो रहे हैं और दुर्ज्ञेय वस्तु का प्रकारान्तर से पुनः उपदेश करना चाहते हैं। जो बहुत धन सम्पत्ति और रमणीय ललनाओं से भी आकर्षित नहीं हुआ, रागादि से रहित निर्मल अन्तःकरण वाले उस जिज्ञासु को पुनः उपदेश करने का सुअसर प्राप्त होना भी सौभाग्य है। यमराज के द्वारा गोपनीयरहस्य, सनातन ब्रह्म का उपदेश किया जायेगा और देहवियोग के पश्चात् आत्मा जैसे रहती है, उसका भी उपदेश किया जाएगा।

पूर्वोक्त मन्त्र में सनातन ब्रह्म के उपदेश की प्रतिज्ञा पहले की गयी थी और मरणोत्तर जीव की स्थिति की प्रतिज्ञा बाद में की गयी, फिर भी ब्रह्म के विषय में बहुत उपदेश करना है और दूसरे विषय में अल्प उपदेश करना है, इसलिए मृत्यु देवता प्रथम मरणोत्तर जीव की स्थिति का वर्णन करते हैं –

जीव के कर्म

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥7॥

अन्वय–

अन्ये देहिनः यथाकर्म यथाश्रुतं शरीरत्वाय योनिं प्रपद्यन्ते। अन्ये स्थाणुम् अनुसंयन्ति।

अर्थ–

अन्ये– परमात्मा के श्रवण, मननादि से रहित **देहिनः**– मनुष्य (मरकर) **यथाकर्म**– कर्म के अनुसार (और) **यथाश्रुतम्**– काम्य उपासना के अनुसार **शरीरत्वाय**– शरीर धारण करने के लिए **योनिम्**– मनुष्यादि योनि को **प्रपद्यन्ते**– प्राप्त करते हैं। **अन्ये**– अन्य मनुष्य भी **स्थाणुम्**– स्थावर आदि शरीर को **अनु**– मृत्यु के पश्चात् **संयन्ति**– प्राप्त करते हैं।

व्याख्या–

अरे! परमात्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए– **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** (बृ.उ.2.4.5) इस प्रकार श्रुति मोक्ष के साधनरूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान करती है। जो मनुष्य आचार्य से परमात्मा का श्रवण नहीं करते हैं और इसके पश्चात् मननादि नहीं करते हैं। वे मरकर अपने कर्म और काम्य

भाव से की गयी उपासना के अनुसार मनुष्यादि शरीर को प्राप्त करते हैं। उनमें जो उत्तम कर्म वाले हैं, वे मरकर देवता और मनुष्य योनि में जाते हैं। उनसे हीन पशु, पक्षी आदि तिर्यग् योनि और उससे भी हीन लता, वृक्ष तथा पर्वत योनि को प्राप्त करते हैं। विद्या (काम्य उपासना), कर्म और पूर्व संस्कार उत्क्रमण करने वाली आत्मा का अनुसरण करते हैं- **तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च** (बृ.उ.4.4.2)। इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार भी आत्मा को नूतन देह की प्राप्ति में कर्म और काम्य उपासना कारण हैं। दूसरे स्थान से इस लोक में आने वाले जीव जब पुण्य वाले होते हैं, तब वे पुण्य कर्म करने योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शरीर को प्राप्त करते हैं और जो पाप कर्म करने वाले होते हैं, वे पाप कर्म करने योग्य कुत्ता, सुअर और चण्डाल शरीर को प्राप्त करते हैं- **तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा** (छां.उ.5.10.7)। इस प्रकार पुण्य कर्म से उत्तम शरीर की प्राप्ति और पाप कर्म से अधम शरीर की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है।

अब षष्ठ मन्त्र में प्रतिज्ञात सनातन ब्रह्म का उपदेश करते हैं -

य एषु[1] सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद् वै तत्॥8॥

अन्वय-

एषु सुप्तेषु यः पुरुषः कामं कामं निर्मिमाणः जागर्ति। तद् एव शुक्रम्, तद् ब्रह्म, तद् एव अमृतम् उच्यते। तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः, तद् कश्चन अत्येति उ न। एतद् तत् वै।

टिप्पणी - 1.एषः इति पाठान्तरः। 2.णमुलन्तमिदम्, द्वित्वमपि आभीक्ष्ण्यद्योतनाय एव।

अर्थ-

एषु- सभी चेतन जीव **सुप्तेषु**- स्वप्नावस्था को प्राप्त होने पर **यः**- जो **पुरुषः**- परमात्मा **कामं कामम्**[2]- संकल्प करके (स्वप्नद्रष्टामात्र के द्वारा अनुभाव्य) **निर्मिमाणः**- भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप स्वप्न के पदार्थों की रचना करते हुए **जागर्ति**- जागता रहता है। **तद्**- वह (जागने वाला परमात्मा) **एव**- ही **शुक्रम्**- प्रकाशक है, **तद्**- वह **ब्रह्म**- ब्रह्म है। **तद्**- वह **एव**- ही **अमृतम्**- निरुपाधिक भोग्य (अनुभाव्य) **उच्यते**- कहा जाता है। **तस्मिन्**- उस परमात्मा में **सर्वे**- सभी **लोकाः**- पृथ्वी आदि लोक **श्रिताः**- स्थित हैं। **तद्**- उसका **कश्चन**- कोई **अत्येति**- अतिक्रमण कर सकता **उ**- ही **न**- नहीं है। **एतद्**- इस मन्त्र से प्रतिपाद्य **तद्**- पूर्व में प्रतिज्ञात रहस्यभूत, सनातन ब्रह्म **वै**- ही है।

व्याख्या-

जाग्रत अवस्था में जिन कर्मों का फल नहीं भोगा जा सकता है, उन सूक्ष्म कर्मों का फल भोग करने के लिए स्वप्नावस्था आती है। जीवों के स्वप्नावस्था में जाने पर जो परमात्मा संकल्प करके केवल स्वप्नद्रष्टा के द्वारा अनुभाव्य भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप स्वप्न के विविध-विचित्र आश्चर्यमय पदार्थों की रचना करते हुए जाग्रत रहता है। जीवों के स्वप्नावस्था में जाने पर जो जाग्रत अवस्था में ही बना रहता है, वह ही सबके प्रकाश (ज्ञान)का हेतु है, वही ब्रह्म है और वह ही निरुपाधिक भोग्य कहा जाता है। अभी अमृत का अर्थ निरुपाधि क भोग्य किया गया। अमृत का अर्थ संसारसम्बन्ध के लेश से भी रहित- **अस्पृष्टसंसारगन्धम्** होता है, इस प्रकार मुक्त और नित्य आत्माएं भी अमृत हैं किन्तु उनका अमृतत्व ईश्वर के अधीन है, स्वाधीन (निरुपाधिक) नहीं किन्तु परमात्मा का अमृतत्व निरुपाधिक है। पृथ्वी आदि सभी लोक परमात्मरूप आधार में ही स्थित हैं। उससे बढ़कर कोई नहीं है, इसलिए उसका कोई किसी भी प्रकार अतिक्रमण नहीं कर सकता है। इस मन्त्र से प्रतिपाद्य परमात्मस्वरूप सनातन ब्रह्म ही है।

एक ही परमात्मा सबके अन्तरात्मारूप से स्थित हैं, यह अर्थ समझने में कठिन होने से इसे दृढ़ करने के लिए दृष्टान्त के सहित उपदेश करते हैं -

एक ब्रह्म ही सबका अन्तरात्मा

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥9॥

अन्वय-

यथा एकः अग्निः भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव। तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः रूपं रूपं प्रतिरूपः च बहिः।

अर्थ-

यथा- जैसे **एकः**- एक **अग्निः**- तेज (पञ्चीकरण से व्याप्त होने के कारण ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत) **भुवनम्**- लोक में (भी) **प्रविष्टः**- प्रविष्ट होकर **रूपं रूपम्**[1]- सभी भौतिक पदार्थों में (मिलकर) उनके **प्रतिरूपः**- समानरूप वाला **बभूव**- हो गया। **तथा**- वैसे **सर्वभूतान्तरात्मा**- सभी प्राणियों का अन्तरात्मा **एकः**- एक ब्रह्म **रूपं रूपम्**- सभी प्राणियों में (मिलकर) उनके **प्रतिरूपः**- समानरूप वाला होता है **च**- और (उनको) **बहिः**- बाहर से भी व्याप्त करके रहता है।

व्याख्या-

परमात्मा ने सृष्टि के आदि में संकल्प करके महत् से लेकर पञ्चभूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि की, फिर उन पृथ्वी आदि भूतों का पञ्चीकरण[2] किया। इन पञ्चीकृत[3] भूतों से ही चतुर्दश भुवन वाले ब्रह्माण्ड का निर्माण और उसके अन्तर्गत भोग्य, भोगोपकरण और

टिप्पणी- 1. रूपे रूपे भौतिकव्यक्तिषु, वीप्सायां द्विर्वचनम्। 2. सभी भूतों को प्रक्रियाविशेष से परस्पर में मिलाना ही पञ्चीकरण कहलाता है। 3. परस्पर में मिले हुए भूत पञ्चीकृत कहे जाते हैं।

भोगस्थानरूप विविध-विचित्र पदार्थों की रचना की। पञ्चीकृत भूतों से जन्य सभी कार्य भौतिक हैं। दृश्य घटादि पदार्थ भौतिक हैं, भूततत्त्व नहीं है, दृश्य जल भी भौतिक है, भूततत्त्व नहीं। तत्त्वरूप भूत तो पञ्चीकृत भूतों के कारण हैं, अतीन्द्रिय हैं, सामान्य मनुष्य की इन्द्रियों के विषय नहीं हैं और शास्त्र से ज्ञेय हैं। पञ्चीकरण होने से तेज ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत भुवन में भी व्याप्त है। वह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में व्याप्त होकर उनके समानरूप वाला हो जाता है। काष्ठ में व्याप्त तेज काष्ठ के आकार का होता है, सूर्य में विद्यमान तेज सूर्य के आकार का होता है। भौतिक पदार्थ जैसा गोला, लम्बा, चौड़ा या तिकोना होता है, उसमें विद्यमान तेज भी उसी आकार को धारण करने वाला होता है।

जैसे एक ही तेज पदार्थ पञ्चीकरण से भुवन में प्रविष्ट होकर और भुवन के अन्तर्गत काष्ठादि पृथ्वी तथा जलादि सभी में मिलकर उनके समान रूप (आकृति) वाला हो गया, वैसे ही सभी का अन्तरात्मा एक ब्रह्म सभी प्राणियों में प्रविष्ट होकर उनके समान रूप वाला हो गया। जैसे तेज घट, पटादि सभी भौतिक पदार्थों के भीतर हें और बाहर[1] भी। पदार्थ विषम होने पर भी उनके भीतर और बाहर रहने वाला तेज एक अर्थात् अविषम (सम) है, वैसे ही परब्रह्म देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियों के भीतर है और बाहर भी है। **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः** (ई.उ.5)। प्राणी विषम होने पर भी उनके भीतर और बाहर रहने वाला परब्रह्म एक अर्थात् अविषम है। वह सभी में समानरूप से व्याप्त है। अब **रूपं रूपं प्रतिरूपः** को स्पष्ट किया जाता है- जैसे पञ्चीकरण प्रक्रिया से तेज काष्ठादि पृथ्वी तथा जलादि में भी स्थित है, तेज का उन पदार्थों से अविभाग है, इसलिए पृथ्वी और जलादि में विद्यमान तेज का "यह काष्ठ है, यह पृथ्वी है, यह जल है।" इस प्रकार काष्ठ और पृथ्वी आदि नामों से भी कथन होता है तथा भौतिक पदार्थों के आकार को ही तेज का आकार कहा जाता है। वैसे ही सभी प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से स्थित परब्रह्म का उन प्राणियों से अविभाग है इसलिए यह इन्द्र है, यह वरुण है, यह चैत्र है, यह मैत्र है,

टिप्पणी- 1. सूक्ष्म तेज वायुमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहता है।

यह देव है, यह मनुष्य है इस प्रकार देव, मनुष्यादि के नामों से परमात्मा का भी कथन होता है तथा प्राणियों के आकार परमात्मा के आकार कहे जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे काष्ठ आदि के नामरूप उसमें प्रविष्ट अग्नि के नामरूप कहे जाते हैं वैसे ही प्राणियों के नामरूप उनमें प्रविष्ट परब्रह्म के नामरूप कहे जाते हैं।

देवताओं से अधिष्ठित इन तीन भूतों में मैं मदात्मक (ब्रह्मात्मक) जीव के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूप का विभाग करूँ- **हन्ताहमिमाः तिस्रो देवताः, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** (छां.उ.6.3.2)। इस श्रुति के अनुसार जीवशरीरक (जीव के अन्तरात्मा) ब्रह्म के अनुप्रवेश से ही नाम-रूप का विभाग होता है। सभी अचेतन पदार्थों में चेतन जीवात्मा का अनुप्रवेश होता है। उसके द्वारा उसमें अन्तर्यामीरूप से स्थित परमात्मा का अनुप्रवेश होता है। अचेतन पदार्थों में जीवात्मा का अनुप्रवेश होने से वे जीवात्मा के शरीर होते हैं और जीवात्मा के द्वारा परमात्मा का भी अनुप्रवेश होने से वे परमात्मा के भी शरीर होते हैं। ऐसा होने पर ही जीवात्माओं तथा उनके द्वारा धारण किए गये शरीरों का अस्तित्व होता है। अचेतन शरीर में जीवात्मा प्रविष्ट है और जीवात्मा में भी परमात्मा अनुप्रविष्ट है, इसलिए शरीर का बोधक नाम उसमें रहने वाले जीवात्मा का नाम तथा जीवात्मा में भी रहने वाले परमात्मा का नाम होता है और अचेतन रूप (शरीर) चेतन जीवात्मा का रूप होते हुए परमात्मा का भी रूप होता है। इस प्रकार अन्तरात्मा ब्रह्म के ही सभी नाम-रूप होते हैं। सृष्टि के पूर्व यह जगत् नामरूप से रहित था, उसने अपने को ही नामरूप के द्वारा व्यक्त किया- **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत** (बृ.उ.1.4.7)। धीर परमात्मा अपने सभी स्थावर-जंगम रूपों की रचना करके उसका नामकरण करके प्रजापति आदि आधिकारिक पुरुषों के समक्ष वर्णन करता है- **सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते** (तै.आ.3.12.16)। अज्ञानी मनुष्य चैत्र, मैत्रादि नामों से परमात्मा को नहीं समझते और इन दृश्य पदार्थों को परमात्मा का रूप भी नहीं समझते किन्तु ब्रह्मवेत्ता चैत्र, मैत्रादि नामों से दृश्य अचेतनपदार्थ को, उसमें विद्यमान जीवात्मा को और जीवात्मा में विद्यमान परमात्मा को भी

समझता है तथा दृश्य पदार्थों को जीवात्मा का रूप समझते हुए परमात्मा का भी रूप समझता है।

अथवा जैसे वक्रत्व और दीर्घत्व इत्यादि विषमताओं से रहित अग्नि भिन्न भिन्न पदार्थों में प्रवेश करके उनके समानरूप वाली हो गयी अर्थात् वक्र पदार्थ में प्रवेश करके वक्र जैसी और दीर्घ पदार्थ में प्रवेश करके दीर्घ जैसी प्रतीत होती है, वैसे ही स्वयं अकर्मवश्य होने के कारण परमात्मा ज्ञान के संकोच-विकासरूप विषमता से रहित होने पर भी देवता में प्रविष्ट होने से देवता जैसा और मनुष्य में प्रविष्ट होने से मनुष्य जैसा प्रतीत होता है। कोई जीव कम ज्ञान वाला होता है और कोई अधिक ज्ञान वाला होता है। इसका कारण धर्मभूत ज्ञान का संकोच और विकास है। जिसके ज्ञान का संकोच होता है, वह कम ज्ञान वाला होता है और जिसके ज्ञान का विकास होता है, वह अधिक ज्ञान वाला होता है। जीव के द्वारा किये गये कर्म ही ज्ञान के संकोच और विकास के कारण होते हैं। जीव कर्मवश्य (कर्म के अधीन) होते हैं इसलिए उनके ज्ञान में संकोच-विकासरूप वैषम्य होता है, परमात्मा कर्मवश्य नहीं है इसलिए उसके ज्ञान में संकोच विकासरूप वैषम्य नहीं है फिर भी वह देव, मनुष्यादि प्राणियों में प्रविष्ट होकर उनके समान रूप वाला जैसा प्रतीत होता है। जैसे विवेकी पुरुष समझता है कि वक्र और दीर्घ पदार्थ अग्नि के स्वरूप नहीं हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुष समझता है कि देव, मनुष्यादि शरीर परमात्मा के स्वरूप नहीं हैं, वह तो इन सबसे विलक्षण हैं। वह तो इनके आधार जीवात्मा का भी आधार है। ''सभी प्राणियों का एक अन्तरात्मा ब्रह्म प्राणियों में मिलकर **प्रतिरूपः**- भिन्न-भिन्न अर्न्तयामीविग्रह वाला होता है और बाहर से भी व्याप्त करता है।'' ऐसा भी कुछ विद्वान् अर्थ करते हैं।

सभी आत्माओं में विद्यमान परमात्मा अहमर्थ है। पामर व्यक्ति को देह में अहं प्रत्यय (बुद्धि) होता है, किसी को इन्द्रियों में किसी को मन में, किसी को प्राण में और किसी को बुद्धि में अहं प्रत्यय होता है। ये सभी स्थूलमति वाले होते हैं। विवेकी को पूर्वोक्त पाँचों से भिन्न आत्मा में अहं प्रत्यय होता है किन्तु ब्रह्मवेत्ता को आत्मा में विद्यमान ब्रह्म

में भी अहं प्रत्यय होता है। सामान्य जन आत्मामात्र को अहमर्थ समझते हैं किन्तु साक्षात्कारी व्यक्ति आत्मा में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान ब्रह्म को अहमर्थ समझता है इसीलिए ब्रह्मात्मभाव के साक्षात्कार से निवृत्त अविद्या वाले ऋषि वामदेव का **तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति** (बृ.उ.1.4.10) इस प्रकार अहन्त्वेन ही ब्रह्म का साक्षात्कार सुना जाता है। इसका विस्तार 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ के अन्तर्गत अहमर्थत्व प्रसङ्ग में देखना चाहिए।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥10॥

अन्वय-

यथा एकः वायुः भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः रूपं रूपं प्रतिरूपः च बहिः।

अर्थ-

यथा- जैसे **एकः**- एक **वायुः**- वायु (पञ्चीकरण से व्याप्त होने के कारण ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत) **भुवनम्**- लोक में (भी) **प्रविष्टः**- प्रविष्ट होकर **रूपं रूपम्**- सभी भौतिक पदार्थों में (मिलकर) उनके **प्रतिरूपः**- समान रूप वाला **बभूव**- हो गया। **तथा**- वैसे **सर्वभूतान्तरात्मा**- सभी प्राणियों का अन्तरात्मा **एकः**- एक ब्रह्म **रूपं रूपम्**- सभी प्राणियों में (मिलकर) उनके **प्रतिरूपः**- समान रूप वाला होता है **च**- और (उनको) **बहिः**- बाहर से भी व्याप्त करता है।

पूर्व मन्त्र के समान इसकी व्याख्या जाननी चाहिए।

वेदान्त सिद्धान्त में जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का मानी जाती है। इस प्रकार परमात्मा में भी आत्मत्व विद्यमान होता है तो अन्दर और बाहर सब ओर व्याप्त होकर रहने वाले परमात्मा में भी जीवात्मा के समान दोष होते हैं, इस शंका का दृष्टान्त के द्वारा

निराकरण करते हैं-

दोषरहित परमात्मा

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥11॥

अन्वय-

यथा सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः चाक्षुषैः बाह्यदोषैः न लिप्यते तथा सर्वभूतान्तरात्मा बाह्यः एकः लोकदुःखेन न लिप्यते।

अर्थ-

यथा- जिस प्रकार **सर्वलोकस्य**- सभी प्राणियों के **चक्षुः**- चक्षु का अधिष्ठाता देवता **सूर्यः**- सूर्य **चाक्षुषैः**- चक्षुसम्बन्धी **बाह्यदोषैः**- मलादि से **न लिप्यते**- लिपायमान नहीं होता है। **तथा**- उसी प्रकार **सर्वभूतान्तरात्मा**- सभी प्राणियों का अन्तरात्मा (अपने से भिन्न समस्त वस्तुओं से) **बाह्यः**- विलक्षण **एकः**- एक परमात्मा **लोकदुःखेन**- प्राणियों के दुःख से **न**- नहीं **लिप्यते**- लिपायमान होता है।

व्याख्या-

चक्षु का अधिष्ठाता देवता होकर सूर्य (चक्षु के साथ) चक्षुस्थान में प्रवेश कर गया- **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्** (ऐ.उ.2.4)। सभी प्राणियों के देखने का साधन चक्षु इन्द्रिय है, उसका अधिष्ठाता देवता सूर्य है। वह चक्षु से निकलने वाले कीचड़ और आँसुओं से सम्बद्ध नहीं होता, नेत्र में होने वाले मोतियाविन्द जैसे रोगों से भी संयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी प्राणियों के भीतर रहकर उनका नियमन करने वाला एक परमात्मा उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि भौतिक इन दुःखों से सम्बद्ध नहीं होता। श्रुति में पठित दुःख शब्द प्राणियों के सभी दोषों का उपलक्षण है। प्राणियों के कर्म से जन्य सुख-दुःख, राग-द्वेषादि किसी भी दोष से उसका अन्तरात्मा परमात्मा

लिपायमान नहीं होता। वह क्यों लिपायमान नहीं होता? क्योंकि वह बाह्य है अर्थात् स्वेतरसमस्त वस्तुओं से विलक्षण है। दुःखादि दोषों से बद्ध जीव सम्बन्धित होता है, परमात्मा सम्बन्धित नहीं होता।

दोषों से लिप्त न होने वाले, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा ब्रह्म के साक्षात्कार से ही मोक्ष प्राप्त होता है, इस विषय को कहते हैं –

सर्वभूतान्तरात्मा के साक्षात्कार से मोक्ष

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥12॥

अन्वय–

यः एक वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बीजं बहुधा करोति। ये धीराः आत्मस्थं तम् अनुपश्यन्ति, तेषां शाश्वतं सुखम्, इतरेषां न।

अर्थ–

यः– जो **एकः**– समान तथा अधिक द्वितीय से रहित **वशी**– सब जगत् को वश में करने वाला अथवा भक्तों के वश में रहने वाला **सर्वभूतान्तरात्मा**– सभी प्राणियों का अन्तरात्मा ब्रह्म **एकम्**– अविभक्त **बीजम्**– तमरूप प्रकृति को **बहुधा**– महत् आदि बहुत प्रकार वाला जगत् **करोति**– करता है। **ये**– जो **धीराः**– धीर मनुष्य **आत्मस्थम्**– अपनी आत्मा में अन्तर्यामीरूप से स्थित **तम्**– जगत्कारण परमात्मा का **अनुपश्यन्ति**– साक्षात्कार करते हैं। **तेषाम्**– उनका **शाश्वतम्**– नित्य **सुखम्**– सुख होता है। **इतरेषाम्**– अन्य लोगों का (शाश्वत सुख) **न**– नहीं होता।

व्याख्या–

सर्वभूतान्तरात्मा एक है। एक का अर्थ सर्वथा द्वितीयरहित नहीं है क्योंकि वैसा अर्थ होने पर सर्वभूत का ही अभाव होने से परमात्मा को सर्वभूतान्तरात्मा कहना भी संभव नहीं होगा। अतः अपने समान तथा

अपने से अधिक द्वितीय से रहित ही एक पद का अर्थ है। सर्वभूतों के अन्तरात्मा के समान दूसरा कोई नहीं है और उससे अधिक कोई नहीं है- **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते** (श्वे.उ.6.8) ऐसा श्वेताश्वतर श्रुति भी कहती है। सर्वभूत तो उससे न्यून हैं, अपनी समानता तथा अधिकता के अभाव वाला सर्वभूतान्तरात्मा वशी है अर्थात् वह चेतनाऽचेतनात्मक समग्र जगत् को अपने वश में करने वाला है- **जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्** (वि.स.ना.135) ऐसा महाभारत में कहा है। वश में रहने वाला भी वशी का अर्थ होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने विश्वामित्र से कहा कि हे मुनिश्रेष्ठ! हम दोनों (राम,लक्ष्मण) सेवक आपकी सेवा में उपस्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ! आज्ञा दीजिए, हम क्या सेवा करें- **इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपागतौ। आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं करवाव किम्** (वा.रा.1.31.4)॥ वश का अर्थ इच्छा भी होता है, इच्छा वाले को वशी कहते हैं- **वशः इच्छा सोऽस्यास्तीति वशी** (प्रका.) भगवान् भक्तों को दर्शन देकर विविध मनोरथों को पूर्ण करने की इच्छा करते हैं, इसलिए भी वशी कहलाते हैं। इससे भगवान् का परमकारुण्य गुण व्यक्त होता है।

सृष्टि के पूर्वकाल में असत् नहीं था, सत् नहीं था- **नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।**(तै.ब्रा.2.8.9.8) सृष्टि के पूर्वकाल में तम था, चेतनाचेतनात्मक जगत् तम में लीन था- **तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्**[1] (तै.ब्रा.2.8.9.10) परमात्मा उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हो गया- **तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्** (तै.उ.2.6.3)। यह श्रुति कार्यावस्था वाले चेतन जीवात्मा का सत् पद से कथन करती है और कार्यावस्था वाले अचेतन पदार्थ का त्यत् पद से कथन करती है। पूर्वोक्त तैत्तिरीयब्राह्मण वाक्य उस चेतन जीव का सत् पद से और अचेतन का असत् पद से निर्देश करता है। इस प्रकार पूर्व ब्राह्मणवाक्य सृष्टि के पूर्व काल में कार्यावस्था वाले चेतन जीव और अचेतन पदार्थ के अभाव का निरूपण करता है और **तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्** यह उत्तर ब्राह्मणवाक्य प्रलय काल में उन दोनों का तम शब्द

टिप्पणी - 1. ब्रह्मणः प्रकृष्टं वासस्थानं चेतनाचेतनात्मकं जगद् इत्यर्थः।

के वाच्य वस्तु में लीन होने का निरूपण करता है। "सृष्टि के पूर्व तम था। व्यष्टि (कार्यावस्थापन्न) चेतनाचेतनात्मक जगत् उसमें लीन था।"। यह ब्राह्मणवचन का अर्थ है। प्रस्तुत ब्राह्मणवचन में आये तम पद का अर्थ चेतनाचेतन समष्टि है। यही "महत् अव्यक्त में लीन होता है, अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर विभक्ततम में लीन होता है, विभक्ततम कार्यावस्थाप्राप्ति की उन्मुखता से रहित अविभक्ततमशरीरक परमात्मा में उससे अभिन्न होकर रहता है- **महानव्यक्ते लीयते। अव्यक्तमक्षरे लीयते। अक्षरं तमसि लीयते। तमः परे देव एकी भवति** (सु.उ.2)"। इस श्रुति से ज्ञात होता है। गुणों की वैषम्यावस्था होने पर सृष्टिकार्य करने के लिए उन्मुख प्रकृति अव्यक्त कहलाती है और इसके पश्चात् कुछ अवस्थान्तर वाली (सृष्टिकार्य करने की उन्मुखता से रहित) होकर गुणों की साम्यावस्था वाली प्रकृति भी अव्यक्त कहलाती है। जिस अवस्था में प्रकृति के गुणों का साम्य भी स्पष्ट नहीं रहता है किन्तु चेतनसमष्टिसंयुक्तत्व स्पष्ट रहता है, उस अवस्था में चेतनसमष्टि से संयुक्त अचेतन प्रकृति को अक्षर कहते हैं। जिस अवस्था में "यह अचेतन है, यह चेतनसमष्टि है।" इस प्रकार चेतनसमष्टिसंयुक्तत्व का भी विवेचन नहीं हो सकता है, उस अवस्था वाला सूक्ष्मप्रधान तम कहलाता है। अक्षर आदि अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए उन्मुख वही तम विभक्ततम कहलाता है और वैसी उन्मुखता से रहित अत्यन्त सूक्ष्मप्रधान अविभक्ततम कहा जाता है। इस अवस्था में उसका परमात्मशरीरत्वेन भी चिन्तन दुष्कर है, तब वह जल में लीन लवण के समान परमात्मा में विलीन होकर उससे अविभक्त रहता है। यह अविभक्ततम प्रकृति ही प्रस्तुत व्याख्येय कठश्रुति में बीज शब्द से कही जाती है। कारणावस्था में बीज नामरूपविभाग से रहित होता है, इसलिए श्रुति उसे एक कहती है। परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ- **तदैक्षत बहु स्याम्** (छां.उ.6.2.3)। इस प्रकार श्रीभगवान् के संकल्प से अविभक्तम प्रकृति कार्योन्मुख होकर क्रमशः विभक्ततम, अक्षर एवं अव्यक्त रूप वाली होती है और उसके गुणों में वैषम्य होता है फिर वह सृष्टि कार्य करने के लिए उन्मुख होती है। ऐसी कार्योन्मुख अवस्था वाली अव्यक्तरूप प्रकृति से महदादि से लेकर पञ्चभूतपर्यन्त

तत्त्वों की सृष्टि होती है। इसके उपरान्त भूतों का पञ्चीकरण होकर उनसे ब्रह्माण्ड और उनके अन्तर्गत चतुर्दश भुवनों की सृष्टि होती है, फिर ब्रह्मा की सृष्टि होकर उनके द्वारा सृष्टि का विस्तार होता है। इस प्रकार परमात्मा अपने संकल्प से एक बीज को जगत्‌रूप कर देते हैं। जो परमात्मा आत्मा में रहते हुए आत्मा के अन्दर रहता है, आत्मा जिसे नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है– **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः** (बृ.उ.मा.पा.3.7. 26) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति आत्मा में अन्तर्यामीरूप से स्थित परमात्मा का वर्णन करती है। जो धीर पुरुष अपनी आत्मा में अन्तर्यामीरूप से स्थित एक वशी, सर्वभूतान्तरात्मा, जगत्कारण परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। उनका शाश्वत सुख होता है। शाश्वत का अर्थ होता है– सदा रहने वाला। वैषयिक सुख क्षणिक है, शाश्वत नहीं। शाश्वत सुख है– मोक्ष। सकल बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर परमात्मा का अनुभव करना ही मोक्ष है। ब्रह्म सुखरूप (आनन्दरूप) है, इसलिए उसका अनुभव रूप मोक्ष भी सुखरूप है। यह सुखरूप मोक्ष एक बार प्राप्त होने पर शाश्वत विद्यमान रहता है इसलिए उसे शाश्वत सुख कहते हैं। साक्षात्कार करने वाले का मोक्ष होता है, बाह्य विषयों में आसक्त चित्त वाले व्यक्ति अपनी आत्मा में स्थित होने पर भी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं, अतः उनका मोक्ष नहीं होता इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह शीघ्र ही अपने अधिकार के अनुसार मोक्ष के साधन में प्रवृत्त हो जाए।

आत्माओं का पारस्परिक भेद और उनका परमात्मा से भेद तथा परमात्मा के सर्वफलप्रदत्व का वर्णन करते हुए पुनः दृढ़ता के लिए परमात्मसाक्षात्कार से मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया जाता है–

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥13॥

अन्वय-

य: नित्य: चेतन: एक: नित्यानां चेतनानां बहूनां कामान् विदधाति। ये धीरा: आत्मस्थं तम् अनुपश्यन्ति, तेषां शाश्वती शान्ति: इतरेषां न।

अर्थ-

य:- जो **नित्य:**- नित्य **चेतन:**- चेतन **एक:**- एक परमात्मा **नित्यानाम्**- नित्य **चेतनानाम्**- चेतन **बहूनाम्**- असंख्य आत्माओं को **कामान्**- अभीष्ट पदार्थ **विदधाति**- प्रदान करता है। **ये**- जो **धीरा:**- मुमुक्षु पुरुष **आत्मस्थम्**- आत्मा में अन्तर्यामीरूप से स्थित **तम्**- सर्वफलप्रदाता परमात्मा का **अनुपश्यन्ति**- श्रवणादि के पश्चात् साक्षात्कार करते हैं। **तेषाम्**- उनकी **शाश्वती**- शाश्वत **शान्ति:**- शान्ति होती है। **इतरेषाम्**- अन्य की (शाश्वत शान्ति) **न**- नहीं होती।

व्याख्या-

इस श्रुति में आये नित्य:, चेतन:, एक: और य: ये एकवचनान्त पद परमात्मा के बोधक हैं तथा नित्यानाम्, चेतनानाम् और बहूनाम ये बहुवचनान्त पद आत्माओं के बोधक हैं। इससे आत्माओं का परस्पर में भेद सिद्ध होता है और उनका भी परमात्मा से भेद सिद्ध होता है तथा आत्मस्थ पद से भी आत्मा और परमात्मा का भेद सिद्ध होता है। यह भेद स्वाभाविक है, औपाधिक नहीं। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए ''विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन'' ग्रन्थ के 'जीवात्मविवेचन' प्रकरण को देखना चाहिए।

कुछ विद्वान् इस श्रुति में 'नित्योऽनित्यानाम्' ऐसे पाठान्तर की कल्पना करते हैं, उनके अनुसार जीवात्माएं अनित्य हैं, वह उचित नहीं हैं क्योंकि वैसा मानने पर भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। आगे 'चेतनानाम्' यहाँ भी बहुवचन है। यहाँ वे 'अचेतनानाम्' ऐसे पाठान्तर की कल्पना कर ही नहीं पाते। 'चेतनानाम्' इस बहुवचनान्त पद से चेतन अनेक सिद्ध होते हैं। चेतन नित्य ही होते हैं, अनित्य नहीं अत: 'अनित्यानाम्' इस पाठान्तर की कल्पना अनार्ष है। परमात्मा कर्मयोगियों

को कर्म का स्वर्गादि अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, ज्ञानयोगियों को ज्ञान का फल ब्रह्मात्मक आत्मा का साक्षात्कार प्रदान करते हैं और ब्रह्मविद्यानिष्ठ भक्तियोगियों को परमात्मासाक्षात्कार से मोक्ष प्रदान करते हैं। अपनी आत्मा में अन्तर्यामीरूप से स्थित अभीष्टफलप्रदाता उस परमात्मा का जो मुमुक्षु साक्षात्कार करते हैं, उनको शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। शाश्वत शान्ति का अर्थ है- दु:खों की आत्यन्तिकी निवृत्ति अर्थात् मोक्ष।

यम के द्वारा उपदिष्ट परमात्मस्वरूप को सुनकर "उसका साक्षात्कार हमारे जैसे साधकों को सम्भव है या नहीं"। इस प्रकार नचिकेता यम से शंका करता है-

आनन्दरूप ब्रह्म के विषय में प्रश्न

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं[1] परमं सुखम्।
कथन्नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥14॥

अन्वय-

अनिर्देश्यं परमं सुखं तद् एतद् इति मन्यन्ते। कथं नु विजानीयाम्? तत् किम् उ भाति वा विभाति।

अर्थ-

अनिर्देश्यम्- अलौकिक **परमम्**- निरतिशय **सुखम्**- आनन्दरूप **तद्**- ब्रह्म **एतद्[2]**- प्रत्यक्ष ही है। **इति**- ऐसा (आप जैसे ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले महापुरुष)**मन्यन्ते**- मानते हैं। पर मैं **कथं नु**- कैसे **विजानीयाम्**- वस्तुत: जानूँ? **तत्**- वह ब्रह्म **किम् उ[3]**- क्या **भाति**- सामान्यरूप से प्रकाशित होता है? **वा**- अथवा **विभाति**- विशेषरूप से प्रकाशित होता है?

टिप्पणी - 1. निर्देश्यम् इति पाठान्तर:। 2. एतद् प्रत्यक्षमेव (शां.भा.), एतद् इत्यस्य प्रत्यक्षमेवेति व्याख्यानम् (गो.टी.)। 3. उ इति वितर्के।

व्याख्या-

घटादि लौकिक पदार्थों के समान निर्देश के अयोग्य ब्रह्म है इसलिए यहाँ उसे अनिर्देश्यम् कहा गया है। 'यह इतना है' इस प्रकार परिच्छिन्न पदार्थों का निर्देश किया जाता है, अपरिच्छिन्न ब्रह्म का उस प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निर्देश्य का अर्थ होता है- लौकिक पदार्थ और अनिर्देश्य का अर्थ होता है- अलौकिक। अलौकिक आनन्दरूप ब्रह्म करतल में स्थित आमले के समान प्रत्यक्ष है। अब 'निर्देश्यम्' पाठ मानकर अर्थ किया जाता है- निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म **एतद् इति निर्देश्यम्**[1]- करतल में स्थित आमले के समान प्रत्यक्ष है। निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म अपना अन्तरात्मस्वरूप होने से हथेली में स्थित आमले के समान प्रत्यक्ष है, ऐसा ब्रह्मसाक्षात्कारी महापुरुष मानते हैं किन्तु रूपादि से रहित ब्रह्म को जानने में असमर्थ मन वाला मैं उसे प्रत्यक्ष कैसे जानूँ। प्रकाशित होने वाली वस्तु को जाना जाता है। घटादि पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित (ज्ञेय) होते हैं और अपनी आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है। यदि ब्रह्म प्रकाशित होता हो तो मैं भी उसे जान सकता, इस अभिप्राय से नचिकेता प्रश्न करता है कि क्या ब्रह्म सामान्यरूप से प्रकाशित होता है? अथवा विशेषरूप से प्रकाशित होता है? अथवा क्या वह ब्रह्म **भाति**- प्रकाशित होता है? (और प्रकाशित होने पर) क्या वह **विभाति**- विशेषरूप से प्रकाशित होता है? **वा**- अथवा विशेषरूप से प्रकाशित नहीं होता है। विशेषरूप से प्रकाशित होने पर मैं भी उसे स्पष्टरूप से जान सकता हूँ, अन्यथा नहीं, यह नचिकेता के प्रश्न का आशय है। इस मन्त्र से निरूप्यमाण दीप्ति (प्रकाश) अपने आश्रय विग्रह का बोध कराती है।

मैं प्रकृतिमण्डल से पर आदित्य के समान भास्वरवर्ण वाले विग्रह को धारण करने वाले इस परम पुरुष को जानता हूँ- **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्** (य.सं.31.18, श्वे.उ.3.8)। आपका (परमात्मा का) जो अतिशयमङ्गलकारक दिव्यविग्रह है, उसे देखता हूँ- **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि** (ई.उ.16)। परमात्मा

....

टिप्पणी - 1. प्रत्यक्षम्।

सदा एकरूप (नित्य) विग्रह को धारण करने वाला है- **सदैकरूपरूपाय** (वि.पु.1.2.1) अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले भास्वर विग्रह को धारण करने वाला अन्तरात्मा है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः**(क.उ.2.1.12-13, 2. 3.17) इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध परमात्मा का दिव्यमङ्गलविग्रह उपासकों के ध्यान का आलम्बन होता है। उससे विशिष्ट परमात्मा निरतिशय दीप्तिमान होकर प्रकाशित होते हैं, वे सूर्यादि के तेज के आच्छादक (अभिभावक) हैं, कारण हैं, और अनुग्राहक हैं, इसे कहा जाता है-

प्रकाशमान परमात्मा

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥15॥

॥ इति द्वितीया वल्ली ॥

अन्वय-

तत्र सूर्यः न भाति, चन्द्रतारकं न। इमाः विद्युतः न भान्ति, अयम् अग्निः कुतः। तं भान्तम् अनु एव सर्वं भाति। तस्य भासा इदं सर्वं विभाति।

अर्थ-

तत्र- हजारों सूर्य के समान प्रकाशमान दिव्यमङ्गलविग्रह से विशिष्ट परमात्मा के समक्ष **सूर्यः**- सूर्य **न**- नहीं **भाति**- प्रकाशित होता है। **चन्द्रतारकम्**- चन्द्रमा और तारे **न**- प्रकाशित नहीं होते हैं। **इमाः**- ये **विद्युतः**- विद्युत **न**- नहीं **भान्ति**- प्रकाशित होती हैं। (तो) **अयम्**- यह **अग्निः**- अग्नि **कुतः**- कैसे प्रकाशित हो सकती है। **तम्**- उस परमात्मा के **भान्तम्**- प्रकाशित होने के **अनु**- पश्चात् **एव**- ही **सर्वम्**- सब **भाति**- प्रकाशित होते हैं। **तस्य**- परमात्मा के **भासा**- प्रकाश से **इदम्**- यह **सर्वम्**- सब **विभाति**- प्रकाशित होता है।

व्याख्या-

परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। दीप्ति (प्रकाशित होना, चमकना) अर्थ वाली भा धातु से भाति शब्द बनता है। सूर्य, चन्द्रादि के समान नेत्रों से दृश्यमान प्रकाश (दीप्ति) परमात्मस्वरूप का नहीं होता, वह तो उनके श्रीविग्रह का होता है। परमात्मा का हजारों सूर्य के समान दिव्यमङ्गलविग्रह प्रकाशित होने पर सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र और तारे भी प्रकाशित नहीं होते, अत्यन्त दीप्तिमान नभस्थ बिजलियाँ भी प्रकाशित नहीं होतीं तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है? अर्थात् उनके दिव्यमङ्गलविग्रह की दीप्ति का साक्षात्कार होने पर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, विद्युत और अग्नि का प्रकाश अभिभूत (तिरोहित) हो जाता है। आकाश में यदि सहस्रों सूर्य की प्रभा का एक साथ उदय हो जाए तो वह उस महात्मा (भगवान्) की प्रभा के समान शायद हो- **दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः** (गी. 11.12)।। इस प्रकार गीता में भी श्रीविग्रह की दीप्ति को हजारों सूर्य से बढ़कर कहा है। वह स्वयं निरतिशय प्रकाशमान है, उसके दर्शन के लिए सूर्यादि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, रात्रि में भी उसके अतिभव्य दर्शन होते हैं और उसकी अङ्गकान्ति से ही अन्य वस्तुएं प्रकाशित होती दिखायी देती हैं। वह असीम तेज वाला है, उसके समान तेज किसी का भी नहीं है, भगवद्दर्शनकाल में ऐसा अनुभव होता है कि सभी दिशाओं में प्रकाश का प्रवाह बह रहा है, उसके मध्य श्रीभगवान् का लोकोत्तरसुन्दर, निखिलभुवनमोहन श्रीविग्रह प्रकाशित हो रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कान्तिमण्डल से युक्त श्रीविग्रह से प्रवाह के रूप में तेजोमयी आभा निकलती रहती है, उसके मध्य भगवान् के अद्वितीय सुन्दर श्रीविग्रह के दर्शन होते हैं। उसके प्रकाश से सूर्यादि का प्रकाश अभिभूत होने से नगण्य हो जाता है। कवि कालिदास का उल्लेख करने पर अन्य कवि अकवि हैं, इस कथन के समान भी प्रकाशमान-दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट परमात्मा का उल्लेख करने पर सूर्यादि प्रकाशित नहीं होते हैं, यह कथन संभव होता है। अतः वह अत्यन्त भास्वर रूप वाला है। परमात्मा का दिव्यमङ्गलविग्रह प्रकाशित होने के पश्चात् सूर्यादि का प्रकाश होता हैं- **तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।** इस प्रकार पौर्वापर्य

होने से कार्यकारण भाव भी ज्ञात होता है, परमात्मा का प्रकाश कारण है और सूर्यादि का प्रकाश कार्य है। परमात्मा के चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ- **चक्षोस्सूर्योऽजायत** (पु.सू.12) इस प्रकार जीव के चक्षु के अधिष्ठाता देवता सूर्य की परमात्मा के चक्षु से उत्पत्ति कही जाती है। सूर्यादि के तेज की उत्पत्ति में उनके उपादान द्रव्य जो सूर्यादि हैं, उनका भी कारण परमात्मा है इसलिए परमात्मा के तेज को सूर्यादि के तेज का कारण कहा जाता है। सूर्यमण्डल के मध्य में कमनीयदीप्तिवाला परमात्मा दिखाई देता है- **अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते** (छां.उ.1. 6.6)। इस प्रकार सूर्यमण्डल में विद्यमान परमात्मा का वर्णन किया जाता है। उससे अनुगृहीत होकर सूर्य और उसके अधीन प्रकाशवाले चन्द्रादि अन्य सभी प्रकाशित होते हैं। सूर्य में विद्यमान जो तेज समग्र जगत् को प्रकाशित करता है। जो तेज चन्द्रमा में है और जो तेज अग्नि में है, उस सब को मेरा ही समझो- **यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्** (गी.15.12)।। जीव भगवान् की आराधना करके ही सूर्य, चन्द्रादि देवता बनते हैं। आराधना से आराधित भगवान् ही उनको तेज प्रदान करते हैं, इसलिए उनका तेज स्वाभाविक नहीं है, वह तो वस्तुतः भगवान् का ही है, इसीलिए यह श्रुति कहती है - परमात्मा के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे और अग्नि का प्रकाश होता है- **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।** जैसे अलंकार (आभूषण) धारण में रुचि रखने वाला मनुष्य कदाचित् दूसरे के द्वारा प्रदत्त अलंकार से अलंकृत होता है, वैसे ही परमात्मा के द्वारा प्रदत्त प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं। भास्वर रूपादि से युक्त दिव्यमङ्गलविग्रह वाले परमात्मा सामान्यरूप से प्रकाशित होते हैं और विशेषरूप से भी प्रकाशित होते हैं, अतः विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं या नहीं? यह संशय नहीं करना चाहिए।

परमात्मा का साक्षात्कार उनके अनुग्रह से होता है। उनके अनुग्रह से सभी इन्द्रियाँ दिव्य हो जाती हैं। युक्तावस्था में परमात्मस्वरूप और अनके श्रीविग्रह दोनों का मन से साक्षात्कार होता है तथा वियुक्तावस्था में श्रीविग्रह का साक्षात्कार चक्षु से होता है और परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार मन से होता है। चरमदेहवियोग के पश्चात् मुक्तात्मा के सभी

साक्षात्कार इन्द्रियनिरपेक्ष ही होते हैं।

द्वितीय वल्ली की व्याख्या समाप्त

तृतीय वल्ली

ब्रह्मतत्त्व अत्यन्त गहन है, इसलिए उसका पुनः उपदेश किया जाता है–

जगत् से विलक्षण ब्रह्म

हरिः ओम्॥
ऊर्ध्वमूलो अवाक्शाख एषोऽश्वत्थस्सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्॥1॥

अन्वय–

ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः एषः अश्वत्थः सनातनः। तद् एव शुक्रम्, तद् ब्रह्म, तद् एव अमृतम् उच्यते। तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः, तद् कश्चन अत्येति उ न, एतद् तद् वै।

अर्थ–

ऊर्ध्वमूलः– ऊपर की ओर मूल वाला **अवाक्शाखः**– नीचे की ओर शाखाओं वाला **एषः**– यह **अश्वत्थः**[1]– संसार नाम वाला वृक्ष **सनातनः**– सदा रहने वाला है। **तद्**– संसार नामक वृक्ष का अन्तरात्मा **एव**– ही **शुक्रम्**– प्रकाशक है। **तद्**– वह (अन्तरात्मा) **ब्रह्म**– ब्रह्म है। **तद्**– वह **एव**– ही **अमृतम्**– निरतिशय भोग्य **उच्यते**– कहा जाता है। **तस्मिन्**– उस परमात्मा में **सर्वे**– सभी **लोकाः**– लोक **श्रिताः**– स्थित हैं। **तद्**– उसका **कश्चन**– कोई **अत्येति**– अतिक्रमण कर सकता **उ**– ही **न**– नहीं है। **एतद्**– इस मन्त्र से प्रतिपाद्य **तत्**– सब का प्रकाशक ब्रह्म **वै**– ही है।

टिप्पणी – 1. श्वो न स्थास्यतीति अश्वत्थः, छेद्यत्वाच्च वृक्षः।

व्याख्या-

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये सात लोक हैं। इनमें सबसे ऊर्ध्व सत्यलोक में ब्रह्मा जी विराजते हैं, वे परब्रह्म नारायण से प्रेरित होकर सृष्टिकार्य करते हैं। प्रस्तुत कठ श्रुति में इस संसार को वृक्ष कहा गया है। कल तक रहने वाली वस्तु श्वत्थ कहलाती है- **श्वः तिष्ठतीति श्वत्थः**। जिसके कल रहने का ठिकाना न हो, उसे अश्वत्थ कहते हैं। यह संसार ऐसा ही है। संसार स्वरूपतः सदा नहीं रहता है, प्रवाहतः सदा रहता है, इसलिए उसे सनातन कहा गया है। वृक्ष का मूल और शाखा भी होती है। इस संसाररूप वृक्ष का मूल क्या है? और शाखाएं क्या हैं? इसका उत्तर देते हैं। सातों लोकों में सबसे ऊर्ध्व सत्य लोक में विद्यमान ब्रह्मा जी इसके मूल हैं और नीचे के लोकों में विद्यमान सभी प्राणी उसकी शाखाएं हैं। सत्यलोक से नीचे तप,जन,मह और स्व (स्वर्ग) लोकों में सिद्धगण और विविध प्रकार के देवता निवास करते हैं। भुवः (अन्तरिक्ष लोक) में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारागण विद्यमान हैं। भूलोक में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जङ्गम और लतावृक्षादि स्थावर रहते हैं, ये सभी संसारात्मक वृक्ष की शाखाएं हैं। जीवों के विविध कर्म ही संसाररूप वृक्ष के पत्ते हैं, सब ओर व्याप्त शब्दादि विषय इसकी कोपलें हैं, धर्माधर्म पुष्प हैं और अतिक्षुद्र सुख, दुःख फल हैं। संसाररूप वृक्ष से अत्यन्त विलक्षण उसका अन्तरात्मा ब्रह्म है। **तदेव शुक्रम्** यहाँ पर तत् पद संसार वृक्ष को कहते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का कथन करता है। शुक्रम् आदि पदों की व्याख्या 2.2.8 में की जा चुकी है। **ऊर्ध्वमूलः** इस मन्त्र के पूर्व **न तत्र सूर्यो भाति** से सबके प्रकाशक ब्रह्म का निरूपण किया गया था। सबका प्रकाशक ब्रह्म ही इस मन्त्र से प्रतिपाद्य संसाराख्य वृक्ष का अन्तरात्मा है।

संसारनामक वृक्ष विनाशी है, त्याज्य है अतः इससे वैराग्य को प्राप्त करके उससे विलक्षण पर तत्त्व के साक्षात्कार के साधन में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इस प्रकार साधन के अनुष्ठान के साधक (जनक) वैराग्य के लिए संसार वृक्ष का उपदेश किया जाता है और यह संसार

परमात्मा की विभूति (नियाम्य वस्तु) है, उसे ब्रह्मात्मक समझने के लिए भी संसार वृक्ष का उपदेश किया जाता है।

ब्रह्म के भय से जगत् की प्रवृत्ति

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्।
महद्[1] भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥2॥

अन्वय-

निस्सृतं प्राणे इदं यत् किञ्च जगत्, सर्वम् उद्यतं वज्रं महदं भयं एजति। ये एतद् विदुः, ते अमृताः भवन्ति।

अर्थ-

परमात्मा से **निस्सृतम्**- उत्पन्न (और) **प्राणे**[2]- परमात्मा में स्थित **इदम्**- यह **यत्**- जो **किञ्च**- कुछ **जगत्**- जगत् है, वह **सर्वम्**- सब **उद्यतम्**- उठाए हुए **वज्रम्**- वज्र के समान परमात्मा से **महद्**- अत्यन्त **भयम्**- भय होने के कारण **एजति**- काँपता है। **ये**- जो **एतद्**- इस ब्रह्म को **विदुः**- प्रत्यक्ष जानते हैं। **ते**- वे **अमृताः**- मुक्त **भवन्ति**- हो जाते हैं।

व्याख्या-

सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से उत्पन्न होता है और उन्हीं में स्थित रहता है किन्तु सृष्टि को सुव्यवस्थित संचालित करने के लिए उनके द्वारा कार्यविशेष में नियुक्त किए गये जो आधिकारिक पुरुष हैं, उनका ही इस मन्त्र में जगत् पद से ग्रहण होता है। जैसे मारने के लिए उद्यत अपने स्वामी के हाथ में उठाया हुआ हथियार देख कर सेवकगण भयभीत हो कर काँपने लगते हैं, वैसे ही उठाये हुए वज्र के समान

टिप्पणी 1.महदित्यादिषु चतुर्षु स्थाने पञ्चम्यर्थे प्रथमा। 2. प्राण इति सप्तम्यन्तपदसामर्थ्यात् स्थितानामित्यध्याहारः। कुतः निस्सृतानाम् इत्यपेक्षायां प्रकृतस्यैवापादानत्वमाह (श्रु.प्र.)। **अत एव प्राणः** (ब्र.सू.1.1.9) इत्यधिकरणन्यायात् प्राणशब्दः परमात्मबोधकः।

परमात्मा से अत्यन्त भय के कारण सब काँपते हैं। कहीं मेरे द्वारा भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन न हो जाए। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने से क्या होगा? इस प्रकार उन्हें महान् भय होता हे। इससे वे आज्ञाकारी होकर अपना अपना कार्य करते हैं। भय से अधिकार के अनुसार अपने - अपने कार्यों में प्रवृत्त होना ही काँपना है। **बिभेत्यस्मात्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भय का अर्थ भयानक करने पर **निस्सृतम्**- उत्पन्न हुआ **इदं**- यह **यत्**- जो **किञ्च**- कुछ **जगत्**- जगत है, उस **सर्वम्**- सबको **उद्यतम्**- उठाये हुए **वज्रम्**- वज्र के समान **महद्**- अत्यन्त **भयम्**- भयानक **प्राणः**- परमात्मा **एजति**[1]- कंपवाता है। इस मन्त्र से प्रतिपाद्य परमात्मा को जो प्रत्यक्ष जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

पूर्व मन्त्र में सामान्यरूप से निर्दिष्ट विषय का अब विशेषरूप से निर्देश करते हैं-

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥3॥

अन्वय -

अस्य भयाद् अग्निः तपति। भयात् सूर्यः तपति। भयाद् इन्द्रः च वायुः च पञ्चमः मृत्युः धावति।

अर्थ-

अस्य- परमात्मा के **भयाद्**- भय से **अग्निः**- अग्नि **तपति**- दाह करती है, उसके **भयात्**- भय से **सूर्यः**- सूर्य **तपति**- तपता है। उस परमात्मा के ही **भयाद्**- भय से **इन्द्रः**- इन्द्र **वायुः**- वायु **च**- और **पञ्चमः**- पाँचवा **मृत्युः**- मृत्यु देवता अपने कार्यों में **धावति**- प्रवृत्त होता है।

व्याख्या-

अग्नि, सूर्य और वायु ये सब प्रत्यक्ष देवता हैं। इन्द्र स्वर्ग का

टिप्पणी - 1. अत्र एजति ण्यर्थगर्भः।

अधिपति है। संसारी जीवों का देह से वियोग कराने वाला मृत्यु देवता है। इन सब के नियमित कार्य करने से ही प्राणियों का जीवन संभव होता है। यदि अग्नि दाह न करे, सूर्य न तपे, वायु प्रवहित न हो तो सभी का जीवन असंभव हो जायेगा। मृत्यु ध्रुव होने पर भी मनुष्य की सहज पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है, यदि मृत्यु अपना काम न करे तो पापाचार की क्या सीमा होगी? और पृथ्वी पर प्राणियों के रहने का स्थान ही नहीं मिलेगा। प्राणियों की संतुलित स्थिति बनाए रखने के लिए इन सभी को परमात्मा से भय होता है। परमात्मा के शासन के अतिक्रमण से होने वाले भय के कारण ही अग्नि, सूर्य, इन्द्र और वायु ये चार तथा पञ्चम मृत्यु देवता सावधान होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र अपना अपना कार्य करते हुए स्थित रहते हैं- **एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः** (बृ.उ.3.8.8) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति परमात्मा के शासन में रहकर कार्य करने वाले सूर्यादि देवताओं का वर्णन करती है। प्रस्तुत कठ मन्त्र में देवताओं में प्रधान अग्नि आदि की स्वकीय कार्यों में भय से प्रवृत्ति कही जाने से अन्य आधिकारिक जनों की भी भय से प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

ऊपर के दो मन्त्रों से परमात्मा में अतिशय अनुराग उत्पन्न करने के लिए उसकी महिमा का वर्णन किया गया। अब इस शरीर के रहते ही उसके ज्ञेयत्व को कहते हैं-

शरीरनाश से पूर्व ही ब्रह्मज्ञान की कर्तव्यता

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततस्सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥4॥

अन्वय-

शरीरस्य विस्रसः प्राक् इह चेद् बोद्धुम् अशकत्। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।

अर्थ-

शरीरस्य- शरीर के **विस्रसः**- नाश से **प्राक्**- पूर्व **इह**- इस लोक में **चेद्**- यदि (कोई साधक ब्रह्म को) **बोद्धुम्**- जानने के लिए **अशकत्**- समर्थ हुआ (तो उसका मोक्ष निश्चित है अन्यथा वह) **ततः**- ब्रह्म का न जानने से **सर्गेषु**[1]- सृज्यमान **लोकेषु**- लोकों में **शरीरत्वाय**- शरीरधारण करने के लिए **कल्पते**- समर्थ होता है।

व्याख्या-

विषयभोग की प्राप्ति सभी शरीरों से सम्भव है किन्तु मनुष्यशरीर परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करके संसार बन्धन से उद्धार करने के लिए अनुग्रहपूर्वक उन्होंने प्रदान किया है। इसे विषयभोग में नष्ट नहीं करना चाहिए, यह अति दुर्लभ है। इस दुर्लभ मानव शरीर के नाश से पहले यदि किसी ने श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्म को जान लिया और मनन, निदिध्यासन कर लिया तो संसार बन्धन से उसकी मुक्ति ध्रुव है अन्यथा सभी लोकोंमें कर्मफलभोग के लिए मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध शरीरों को ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। पुनः मनुष्यशरीर पाने पर यदि ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ तो फिर वही दशा होती है। इस प्रकार अज्ञानी बुभुक्षु प्राणी का पुनः पुनः संसार चक्र में परिभ्रमण होता रहता है। अतः शीघ्र ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रस्तुत श्रुति का सार है।

ऊपर इसी शरीर के रहते शीघ्र ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की अनिवार्यता कही गयी, अब उसके दुर्बोधत्व को कहते हैं -

ब्रह्मज्ञान दुर्लभ

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥5॥

टिप्पणी - 1. सृज्यन्ते इमे इति सर्गाः, कर्मव्युत्पत्त्या सृज्यमानस्य बोधकः सर्गशब्दः।

अन्वय-

यथा आदर्शे तथा आत्मनि। यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथा अप्सु परि इव ददृशे तथा गन्धर्वलोके। छायातपयोः इव ब्रह्मलोके।

अर्थ-

यथा- जैसे प्रकाश का अभाव होने से **आदर्शे**- दर्पण में सामने स्थित वस्तु दिखाई नहीं देती है **तथा**- वैसे ही निर्मल मन का अभाव होने से **आत्मनि**- आत्मा में विद्यमान परमात्मा दिखायी नहीं देता। **यथा**- जैसे **स्वप्ने**- स्वप्न में प्रतीयमान वस्तु का ज्ञान जाग्रत अवस्था के ज्ञान के समान सम्यक् संशयादि का निवर्तक न होने से अस्पष्ट होता है **तथा**- वैसे ही **पितृलोके**- पितृलोक में कर्मफलभोगमें चित्त आसक्त होने के कारण ब्रह्म का ज्ञान अस्पष्ट होता है। **यथा**- जैसे तरंगों के कारण **अप्सु**- जल में स्थित वस्तु पृथ्वी में स्थित वस्तु के समान यथावत् ज्ञात नहीं होती अपितु **परि**[1]- यथावत् **इव**- जैसी **ददृशे**- ज्ञात होती है। **तथा**- वैसे ही भोगवासना की तरंगों के कारण **गन्धर्वलोके**- गन्धर्वलोक में भी ब्रह्म यथावत् ज्ञात नहीं होता। इस लोक में होने वाले **छायातपयोः**- छाया और प्रकाश के स्पष्ट ज्ञान **इव**- के समान **ब्रह्मलोके**- ब्रह्मलोक (सत्यलोक) में ब्रह्म का स्पष्ट ज्ञान होता है।

व्याख्या-

निर्मल मन के विना कभी कहीं भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, अतः इसी लोक में मन को निर्मल करके ब्रह्मसाक्षात्कार शीघ्र कर लेना चाहिए। दर्पण में बिम्ब पदार्थ का बायाँ भाग दाहिनी ओर और दाहिना भाग बायीं ओर समझ में आता है अतः **यथा**- जैसे बिम्ब के समान **आदर्शे**- दर्पण में वस्तु (प्रतिबिम्ब) यथावत् ज्ञात नहीं होती है, **तथा**- वैसे ही शुद्ध मन के विना **आत्मनि**- आत्मा में विद्यमान परमात्मा यथावत् ज्ञात नहीं होता, ऐसा भी अर्थ होता है। **यथा**- जैसे प्रकाश होने से **आदर्शे**- दर्पण में सामने स्थित वस्तु दिखायी देती है, **तथा**- वैसे ही शुद्ध मन होने पर **आत्मनि**- आत्मा में परमात्मा दिखाई देता है, ऐसा भी

टिप्पणी - 1. परीव ददृशे - परिदृश्यत इव (शां.भा.)

उक्त वाक्य का अर्थ होता है। अभी मन्त्र में आए यथादर्शे का **यथा** + **आदर्शे** पदच्छेद करके अर्थ किया गया **यथा** + **दर्शे** ऐसा मानने पर **यथा**– जिस प्रकार प्रकाश न होने से **दर्शे**– अमावास्था की रात्रि होने पर वस्तु ज्ञात नहीं होती **तथा**– वैसे ही शुद्ध मन के न होने पर, गहन अज्ञान होने पर **आत्मनि**– आत्मा में स्थित परमात्मा ज्ञात नहीं होता। जैसे स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान जाग्रत के पदार्थों के समान संशय, विपर्यय का निवर्तक न होने से स्पष्ट नहीं होता है, वैसे ही पितृलोक में, वासनाओं से आच्छादित, अशुद्ध मन होने से परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है। जैसे लहरों के कारण जलस्थ वस्तु स्पष्ट ज्ञात नहीं होती वैसे ही भोग–वासना रूप लहरों के कारण गन्धर्व लोक में भी परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जैसे यहाँ छाया और प्रकाश का स्पष्ट ज्ञान होता है। वैसे सत्यलोक में परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान होता है। सत्यलोक उच्चकोटि के सात्त्विक उपासकों का स्थान है, उनको अन्य लोकों के उपासकों की अपेक्षा परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान होता है किन्तु वह सबको सुलभ नहीं अत: यहीं पर साक्षात्कारात्मक ज्ञान के लिए प्रयास करना चाहिए। यहाँ साक्षात्कार के साधन में प्रवृत्त न होकर यदि कोई समझे कि मैं मरकर लोकान्तर में जाकर साधन करुँगा तो यह उसकी महती भ्रान्ति है, जब यहाँ के तुच्छ भोगों से मन विचलित होने के कारण साधन में व्यवधान आने से साधन सम्पन्न नहीं होता तो स्वर्गादि लोकों में यहाँ की अपेक्षा अतिरमणीय भोगों से मन विचलित क्यों नहीं होगा? अत: कल के भरोसे कभी नहीं रहना चाहिए और प्रमाद छोड़कर अपने कर्तव्य में अविचलभाव से लग जाना चाहिए।

देहात्मबुद्धिवालों को अपनी आत्मा का ही ज्ञान न होने से आत्मा के अन्तर्यामी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता अत: प्रथम प्रकृति के सम्बन्ध से रहित अपनी आत्मा को जानना चाहिए, इस अभिप्राय से कहते हैं–

ज्ञानी के दु:खों का अभाव

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥6॥

अन्वय-

उत्पद्यमानानां पृथक् इन्द्रियाणां यत् पृथग्भावं च उदयास्तमयौ, मत्वा धीरः न शोचति।

अर्थ-

उत्पद्यमानानां- उत्पन्न होने वाली **पृथक्**- भिन्न-भिन्न **इन्द्रियाणाम्**- इन्द्रियों की **यत्**- जो **पृथग्भावम्**- परस्पर में विलक्षणता (भेद) **च**- और **उदयास्तमयौ**- उदय तथ अस्त हैं, उन सभी को इन्द्रियों में **मत्वा**- जानकर **धीरः**- बुद्धिमान् **न शोचति**- शोक नहीं करता है।

व्याख्या-

मन्त्र में इन्द्रियाणाम् पद देह का भी उपलक्षण है। आत्मा उत्पन्न नहीं होती, देह तथा इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न होने वाली विलक्षण देह और इन्द्रियों का जो पारस्परिक वैलक्षण्य (भेद) है, वह देहादि में ही है, नित्य आत्मा में नहीं। स्वप्नावस्था में मन को छोड़कर सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों से उपरत हो जाती हैं और सुषुप्ति में मन भी उपरत हो जाता है। जाग्रत अवस्था में कार्य करने के लिए सभी इन्द्रियों का उदय होता है और कार्य करते करते थकावट होने पर सुषुप्ति अवस्था में उनका अस्त होता है। इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है, आत्मा को थकावट नहीं होती। इन्द्रिय के उदय और अस्त को आत्मा का उदय और अस्त नहीं समझना चाहिए। देह के उदय और अस्त से उसकी उत्पत्ति और विनाश को समझना चाहिए। देह से आत्मा भिन्न है अतः देह का उदय और अस्त होने से नित्य आत्मा का उदय और अस्त नहीं होता , वह देहप्राप्ति के पूर्व और देहनाश के उत्तर काल में भी रहती है। सावयव पदार्थ देह और इन्द्रिय के ही उदय और अस्त होते हैं, निरवयव आत्मा के नहीं होते। इस प्रकार देह और इन्द्रिय के विकारों को देहेन्द्रिय में ही समझकर, उनसे भिन्न आत्मा और उसके अन्तरात्मा ब्रह्म को जानकर धीर मनुष्य शोक नहीं करता है।

सामान्य जन तो देह और इन्द्रियों को ही आत्मा समझते हैं इसलिए देह स्थूल होने पर 'अहं स्थूल:' इस प्रकार आत्मा को स्थूल तथा देह कृश होने पर 'अहं कृश:' इस प्रकार आत्मा को कृश मानते हैं। चक्षु इन्द्रिय में काणत्व (कानापन) होने पर 'अहं काण:' इस प्रकार अपने को काना तथा श्रोत्र इन्द्रिय में वधिरत्व होने पर 'अहं वधिर:' इस प्रकार अपने को वधिर मानते हैं। वास्तव में स्थूलत्व, दुर्बलत्व देह के धर्म हैं तथा काणत्व, वधिरत्व इन्द्रियों के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा इस सभी विकारों से रहित है।

देह, इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा के यथार्थस्वरूप के ज्ञान में भी भगवत्-शरणागति ही उपाय है, इस लिए मोक्ष के लिए पूर्व (क.उ.1. 3.10) में वर्णित शरणागति द्वारा ज्ञान से मोक्ष और अमृतत्वप्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है-

अमृतत्व की प्राप्ति

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसस्सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥7॥
अव्यक्तात् तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यद्[1] ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥8॥

अन्वय-

इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसः उत्तमं सत्त्वम्। सत्त्वाद् अधि महान् आत्मा। महतः उत्तमम् अव्यक्तम्। तु अव्यक्तात् परः व्यापकः च अलिङ्गः पुरुषः एव। यद् ज्ञात्वा जन्तुः मुच्यते च अमृतत्वं गच्छति।

अर्थ-

इन्द्रियेभ्यः- इन्द्रियों से **परम्**- प्रबल **मनः**- मन है। **मनसः**- मन से **उत्तमम्**- बलवान् **सत्त्वम्**- बुद्धि है। **सत्त्वाद्**- बुद्धि से **अधि**

टिप्पणी - 1. अत्र यम् इति पाठान्तरः।

– पर **महान्**– महान् **आत्मा**– आत्मा है। **महतः**– महान् आत्मा से, **उत्तमम्**– पर **अव्यक्तम्**– शरीर है। **तु**– किन्तु **अव्यक्तात्**– अव्यक्त से **परः**– पर **व्यापकः**– व्यापक **च**– और **अलिङ्गः**– लिङ्ग से अगम्य **पुरुषः**– परमात्मा **एव**– ही है। **यद्**– जिसका **ज्ञात्वा**– साक्षात्कार करके **जन्तुः**– जीवात्मा **मुच्यते**– संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। **च**– और **अमृतत्वम्**– निरतिशय भोग्यत्व को **गच्छति**– प्राप्त करता है।

व्याख्या–

मन्त्र में आया इन्द्रियेभ्यः पद विषय का भी उपलक्षण है। इन्द्रिय और विषय दोनों से पर मन है। इन्द्रियों से प्रबल विषय हैं और विषय से प्रबल मन है– **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः** (क.उ.1.3.10) ऐसा पूर्व में कहा गया है। मन से पर सत्त्व होता है, सत्त्व का अर्थ है– बुद्धि क्योंकि मन से पर तो बुद्धि है– **मनसस्तु परा बुद्धिः** (क.उ.1.3.10) ऐसा भी पूर्व में कहा गया है। इन्द्रियादि सभी के वशीकरण का पूर्व में (1.3.13) में वर्णन हो चुका है। वशीकरण की सीमा परमात्मा है, इन्द्रियादि से लेकर परमात्मपर्यन्त सब का वशीकरण करना है। परमात्मा का वशीकरण होने पर सब का वशीकरण हो जाता है। परमात्मा की शरणागति करना ही उनको वश में करना है। उनको वश में होने से आत्मसाक्षात्कार और परमात्मसाक्षात्कार अनायास सुलभ हो जाते हैं। परमात्मा व्यापक है अर्थात् जड़, चेतन सभी में व्याप्त होकर रहता है, वह अलिङ्ग है। जिसका लिङ्ग (पहचान या हेतु) होता है, उसका अनुमान प्रमाण से ज्ञान होता है, सकलेतरविलक्षण परमात्मा का कोई लिङ्ग नहीं है, अतः उसे अनुमान प्रमाण से नहीं जान सकते। वह शास्त्रैकगम्य है। अतः गुरुमुख से शास्त्र के द्वारा परमात्मा को जानकर मनन और साक्षात्कार करके जीवात्मा संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है तथा निरतिशय भोग्य (अनुभाव्य) परमात्मा को प्राप्त करता है।

समाहितचित्त वाला साधक भक्ति से परमात्मा का साक्षात्कार करता है, इसे कहा जाता है –

भक्ति से परमात्मा का साक्षात्कार

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं[1] विदुरमृतास्ते भवन्ति॥9॥

अन्वय-

अस्य रूपं सन्दृशे न तिष्ठति। कश्चन एनं चक्षुषा न पश्यति। मनीषा मनसा हृदा अभिक्लृप्तः। ये एनं विदुः, ते अमृताः भवन्ति।

अर्थ-

अस्य- परमात्मा का **रूपम्**- रूप (व्यापक होने के कारण ही) **सन्दृशे**- सम्यक् ज्ञान का विषय होने में (अभिमुख होकर ही) **न**- नहीं **तिष्ठति**- रहता है **कश्चन**- कोई **एनम्**- परमात्मा के रूप को **चक्षुषा**- नेत्र से **न**- नहीं **पश्यति**- देखता है। वह **मनीषा**- स्थिर **मनसा**- मन से **हृदा**- भक्ति के द्वारा **अभिक्लृप्तः**- साक्षात्कृत होता है। **ये**- जो **एनम्**- परमात्मा का **विदुः**- साक्षात्कार करते हैं, **ते**- वे **अमृताः**- मुक्त **भवन्ति**- हो जाते हैं।

व्याख्या-

मन्त्र में आए रूप पद से परमात्मस्वरूप अथवा श्रीविग्रह का ग्रहण होता है। परमात्मस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है किन्तु ज्ञान का विषय होने में अभिमुख (सामने) होकर ही रहे, ऐसा नहीं है क्योंकि वह व्यापक ही है, अतः वह अभिमुख-पीछे, दाएं-बाएं ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर सब स्थान पर है, इस लिए वह अभिमुख होकर ही ज्ञान का विषय नहीं होता, घटादि परिच्छिन्न पदार्थ ही ज्ञान के विषय होने में अभिमुख होकर ही रहते हैं किन्तु सकलेतरविलक्षण, विभु परमात्मा ज्ञान का विषय होने में केवल अभिमुख होकर नहीं रहता, उनका विराट (गीता में वर्णित विश्वरूप) विग्रह भी व्यापक होने के कारण ही सम्यक् ज्ञान का विषय होने में केवल सम्मुख होकर नहीं रहता। परमात्मस्वरूप को चक्षु से कोई नहीं देख सकता क्योंकि चक्षु

टिप्पणी - 1. अत्र एतद् इति पाठान्तरः।

रूप और रूपवान् पदार्थ के देखने का साधन है किन्तु परमात्मस्वरूप रूप से रहित है। श्रीविग्रह में रूपादि अवश्य हैं तथापि उसे कोई प्राकृत चक्षु से नहीं देख सकता क्योंकि वह रूप और रूपवान् परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थों के ही ज्ञान का साधन है अथवा **सन्दृशे**- सम्यक् ज्ञान का विषय होने में **अस्य**- परमात्मा का **रूपम्**- दृश्य नील, पीतादि रूप **न तिष्ठति**- नहीं होता, इसलिए उसे कोई चक्षु से नहीं देखता। परमात्मा का चक्षु से साक्षात्कार नहीं होता तो किस साधन से होता है? इस पर कहते हैं- **हृदा मनीषा मनसा**......इत्यादि। प्रस्तुत श्रुति का उपबृंहणभूत यह महाभारत का वचन है- **न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। भक्त्या व धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यन्तीह** (म.भा.शां.) इसमें पूर्वार्ध श्रुति के समान है और एकाग्रता (स्थिरता) से प्रशान्तचित्त वाला व्यक्ति इस शरीर के रहते ही भक्ति से ज्ञानस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है यह उत्तरार्ध का अर्थ है। इस उपबृंहण वचन के अनुसार कठमन्त्र में आए हृदा का अर्थ भक्त्या और मनीषा का अर्थ धृत्या होता है। तेल की धारा के समान कभी न टूटने वाला स्मृति का प्रवाह निदिध्यासन कहलाता है, प्रीतिरूपापन्न होने पर वही भक्ति कहलाता है। साक्षात्कार का हेतु ब्रह्मविद्या या ब्रह्मज्ञान भक्ति ही है। शमदमादि से युक्त एकाग्रचित्त से भक्ति के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। **भक्त्या त्वनन्यया शक्यः** (गी.11.54)। यह भगवद्गीता वचन भी इसी अर्थ का प्रतिपादक है। परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला ब्रह्मवेत्ता संसार चक्र से मुक्त हो जाता है। इस कठ श्रुति में पूर्वार्ध के द्वारा प्रकारान्तर से परमात्मा के दुर्बोधत्व का कथन किया गया और उत्तरार्ध के द्वारा मुमुक्षु के आचरणीय भक्तियोग का विधान किया जाता है। भक्ति से जन्य जो साक्षात्कार है, वह भक्ति की ही उत्तरकालिक अवस्था है।

पूर्वमन्त्र में भक्तियोग से परब्रह्म का साक्षात्कार कहा गया। अब उस योग के प्रत्याहारादि अङ्ग कहे जाते हैं-

मोक्ष की दशा

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥10॥

अन्वय-

यदा पञ्च ज्ञानानि मनसा सह अवतिष्ठन्ते च बुद्धिः न विचेष्टेत, तां परमां गतिम् आहुः।

अर्थ-

यदा- जिस दशा में **पञ्च**- पाँच **ज्ञानानि**- ज्ञानेन्द्रियाँ (अपनी प्रवृत्ति के हेतु) **मनसा**- मन के **सह**- साथ (विषयों से निवृत्त होकर) **अवतिष्ठन्ते**- स्थिर हो जाती हैं। **च**- और **बुद्धिः**- बुद्धि (भी) **न विचेष्टेत**- चेष्टा नहीं करती है, तब (मोक्ष के लिए उपयोगी होने से) योगवेत्ता **ताम्**- उस दशा को **परमाम्**- परम **गतिम्**- गति **आहुः**- कहते हैं।

व्याख्या-

ज्ञायतेऽनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ ज्ञान का अर्थ है। वे चक्षु, रसना, त्वक्, घ्राण और श्रोत्र भेद से पाँच प्रकार की होती है। वे रूपादि विषयों के भोग के लिए उनमें संचरण करती हैं। इन विषयों से इन्द्रियों को हटाने वाले एकान्त सेवी साधक का भी मन उन का चिन्तन करता रहता है और मन से प्रेरित होकर इन्द्रियाँ पुनः विषयों में जाने के लिए उद्यत हो जाती हैं क्योंकि उसका प्रवर्तक मन है। अतः साधक मन के साथ पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाता है। इन्द्रियों को विषयों से हटाना ही प्रत्याहार कहलाता है, यह योग का अङ्ग है। मन के सहित ज्ञानेन्द्रियों को विषय से निवृत्त होने पर अन्तर् इन्द्रिय मन को आत्मा में स्थित परमात्मा में लगाया जाता है। मन को ध्येयरूप एक स्थान में लगाने को धारणा कहते हैं- **देशबन्धस्य**

चित्तस्य धारणा (यो.सू.3.1) इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध से भक्तियोग के अङ्ग प्रत्याहार और धारणा का प्रतिपादन किया जाता है। अध्यवसाय (निश्चयात्मकज्ञान) से युक्त मन को ही श्रुति बुद्धि[1] शब्द से कहती है। मन को ध्येय में लगाने का जब दृढ़ अभ्यास होता है तब वह कोई चेष्टा नहीं करता अर्थात् अविचल भाव से परमात्मा में स्थित हो जाता है। मन को ध्येय में लगाने पर वृत्तियों की एकतानता अर्थात् विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों का प्रवाह ध्यान कहलाता है– **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** (यो.सू.3.2), ध्यानरूप निश्चयात्मिका वृत्ति से युक्त मन ही श्रुति में बुद्धि शब्द से निर्दिष्ट है। धारणा के पश्चात् ध्यान होता है। प्रीतिरूपता को प्राप्त दर्शनसमानाकार ध्यान ही भक्ति है। इस प्रकार **बुद्धिश्च न विचेष्टेत** के द्वारा योग का अङ्ग ध्यान तथा उससे साध्य भक्ति कही जाती है। जिस दशा में मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों से विनिवृत्त होकर ध्येय परमात्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, मोक्षोपयोगी होने से योगवेत्ता मन की उस दशा को परमागति कहते हैं। प्रीतिरूपान्न दर्शनसमानाकार ध्यान ही वह दशा है। वह ध्यान भक्ति कहा जाता है।

पूर्वमन्त्र से प्रत्याहारादि अङ्गों को कहकर परमा गति नाम से निर्दिष्ट भक्तियोग को अब स्पष्ट करते हैं–

भक्तियोग

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥11॥

अन्वय–

स्थिराम् इन्द्रियधारणां तां योगम् इति मन्यन्ते। तदा अप्रमत्तः

टिप्पणी – 1. अध्यवसायोपेतं मन एव बुद्धिशब्देन उच्यते।

भवति, हि योगः प्रभवाप्ययौ।

अर्थ-

स्थिराम्- स्थिर **इन्द्रियधारणाम्**- इन्द्रिय की धारणारूप **ताम्**- परमागति **योगम्**- भक्ति योग है **इति**- ऐसा (योगवेत्ता) **मन्यन्ते**- मानते हैं। **तदा**- तब (भक्तियोगी) **अप्रमत्तः**- प्रमादरहित **भवति**- होता है। **हि**- क्योंकि **योगः**- भक्तियोग (प्रतिक्षण) **प्रभवाप्ययौ**- उत्पत्ति-विनाश वाला है।

व्याख्या-

पूर्व में कहा गया कि योगी मनसहित सभी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाता है और फिर मन को ध्येय परमात्मा में लगाता है, यह धारणा है। धारणा के पश्चात् तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिप्रवाहरूप ध्यान होता है। प्रिय वस्तु का स्मरण (ध्यान) प्रीतिरूप होता है, परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप होने से निरतिशय प्रिय हैं, अतः उनका ध्यान भी निरतिशय प्रीति रूप हो जाता है, इसलिए साधक उसे छोड़ना नहीं चाहता, अपितु प्रीतिपूर्वक उसका अनुष्ठान करता रहता है। तेल की धारा के समान कभी न टूटने वाली प्रेममयी स्मृति की प्रवाहरूप जो दशा होती है उसे परमा गति कहा गया। अब एकादश मन्त्र में इसे ही भक्तियोग कहा जाता है। ध्यान के पूर्वकाल में धारणा होती है तथा धारणसे साध्य ध्यान और ध्यान की अवस्थाविशेष (प्रीतिरूपापन्न) भक्ति ये दोनों स्थिर धारणा हैं। इनमें पूर्वमन्त्र में परमागति शब्द से कही गयी मन की स्थिर धारणारूप प्रेममयी जो ध्रुवा स्मृति है। वह ही भक्तियोग है, ऐसा योगी पुरुष स्वीकार करते हैं। उस योग के काल में योगी प्रमादरहित (एकाग्र) होता है। विविध विषयों में इन्द्रियों के व्यापृत होने के कारण शिथिलता होने से प्रमाद आता है। योगकाल में बाह्येन्द्रियाँ अपने व्यापार से रहित होती हैं और मन ध्येय में लगकर निर्वात स्थान में रखे दीपक के समान शान्त बना रहता है, इस प्रकार प्रमाद न होने से भक्ति योग सतत अबाधित गति से प्रवहित होता है। योगकाल में प्रमाद के अभाव (सावधानी) की

क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं- **योगो हि प्रभवाप्ययौ** अर्थात् योग प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होने वाला है। योग बुद्धि की ध्येयाकार वृत्तिरूप है। वृत्ति क्षणिक होती है। ध्यानकाल में पूर्व वृत्ति नष्ट होकर उसके सजातीय नूतनवृत्ति उत्पन्न होती है, यह क्रम सतत चलता रहता है। ध्यानकाल में एक ही वृत्ति नहीं रहती है अपितु एक (ध्येय के) आकार की ही सभी वृत्तियाँ होती है इसीलिए तैलधारावदविछिन्नप्रीतिमयवृत्तिप्रवाहरूप भक्ति कही जाती है। योगकाल में प्रमाद होने से योग अबाधित गति से आगे नहीं बढ़ेगा, जिससे अपरोक्षात्मिका भक्ति न होने से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं। अत: मोक्ष का जनक अपरोक्ष भक्तियोग की सिद्धि केलिए भक्तियोग का नैरन्तर्य अपेक्षित है, इसके लिए अप्रमाद की आवश्यकता होती है अथवा प्रभव का अर्थ है- मन की प्रकर्षता से ब्रह्म में स्थिति और अप्यय का अर्थ है- इतर वृत्तियों का अभाव। इस प्रकार प्रभव और अप्यय दोनों ही योग हैं, इनके सातत्य के लिए प्रमाद न होना आवश्यक है अथवा प्रभव का अर्थ है- इष्ट ब्रह्म की अनुभूति और अप्यय का अर्थ है- अनिष्ट संसार की निवृत्ति। इन दोनों की सिद्धि के लिए योग काल में अप्रमत्त होने की आवश्यकता रहती है। कुछ व्याख्याकार ''योगकाल में अप्रमत्त रहना चाहिए'' ऐसा **अप्रमत्तस्तदा भवति** का अर्थ करके प्रमाद के अभाव का विधान मानते है, इससे वह विधेय कोटि में आने से कर्तव्य हो जाता है।

मन इन्द्रिय के द्वारा भक्तियोग से साक्षात्करणीय परमात्मा योग से पूर्व काल में वेदान्त वाक्यों से ही ज्ञेय है, इसे कहते हैं-

उपनिषद्वेद्य परमात्मा

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥12॥

अन्वय-

वाचा प्राप्तुम् एव न शक्यः, मनसा न, चक्षुषा न। अस्ति इति ब्रुवतः अन्यत्र तत् कथम् उपलभ्यते।

अर्थ-

परब्रह्म को **वाचा**- वाणी से **प्राप्तुम्**- जान **एव**- ही **न**- नहीं **शक्यः**- सकते हैं। **मनसा**- मन से (जान ही) **न**- नहीं (सकते हैं और) **चक्षुषा**- चक्षु से (भी जान ही) **न**- नहीं (सकते)। **अस्ति**- परब्रह्म है **इति**- ऐसा **ब्रुवतः**- कहने वाले उपनिषत् से **अन्यत्र**- भिन्न प्रमाण से **तत्**- परब्रह्म **कथम्**- कैसे **उपलभ्यते**- जाना जा सकता है?

व्याख्या-

वाग् इन्द्रिय से परब्रह्म को नहीं जान सकते हैं। श्रुति में वाक् का बोधक वाचा शब्द सभी कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है। कर्मेन्द्रियों के विषय विविध कर्म हैं, उनसे कर्म किए जाते हैं। इस प्रकार कर्मेन्द्रिय कर्म करने का साधन है, ज्ञान का साधन है ही नहीं अतः उससे किसी भी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता तो परब्रह्म का ज्ञान भी असंभावित है। अथवा **वाचा**- उपनिषद्भिन्न लौकिक वाणी के द्वारा परब्रह्म को नहीं जान सकते और असंस्कृत, तर्ककुशल मन से परब्रह्म को नहीं जान सकते। चक्षु रूप और रूपवान् पदार्थ के ज्ञान का साधन है, परब्रह्म रूप और रूपवान् पदार्थ से भिन्न है इसलिए उसे चक्षु से भी नहीं जान सकते। यहाँ चक्षुषा पद सभी ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है। घ्राण, रसना और श्रोत्र ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्रम से गन्ध, रस और शब्द गुणों के ज्ञान के साधन हैं। परमात्मा इनसे भिन्न हैं, अतः इन इन्द्रियों से उसे नहीं जान सकते हैं। त्वग् इन्द्रिय स्पर्श और स्पर्शवान् पदार्थ के ज्ञान का साधन है। परमात्मस्वरूप इनसे भिन्न होने के कारण त्वग् इन्द्रिय से ज्ञेय नहीं है। मन सभी इन्द्रियों के कार्यों में सहायक होता है, उसका स्वतन्त्र विषय है- मनन (स्मरण)। पूर्वकाल में अनुभव किए गये विषय का ही मनन किया जाता है, जिसका पूर्व में ज्ञान हुआ ही नहीं। उसका संस्कृत मन से स्मरण भी नहीं हो सकता तो फिर उसका ज्ञान कैसे होता है? परमात्मा है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों से ही उसका ज्ञान होता है, उसे

छोड़कर और किसी भी प्रमाण से परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार वह वेद प्रमाण को स्वीकार करने वाले आस्तिकों के लिए ही प्रकाशित होता है।

उक्त विवरण का सार यह है कि परमात्मा के अपरोक्ष से पूर्व उसका परोक्ष ज्ञान केवल उपनिषत् प्रमाण से संभव है, प्रकारान्तर से नहीं। अतः प्रथम आचार्य के द्वारा वेदान्त वाक्यों से परब्रह्म को जानना चाहिए फिर साक्षात्कार के साधन प्रत्याहारादि में प्रवृत्त होकर भक्तियोग के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। योगकाल में सकल कल्याणगुणगण और दिव्यमङ्गलविग्रह से विशिष्ट अपने अन्तरात्मा परब्रह्म का निर्मल मन से साक्षात्कार होता है।

मन से ज्ञेय परमात्मा है, यह नवम मन्त्र में स्पष्टरूप से कहा गया और द्वादश मन्त्र में वह शास्त्र के द्वारा ज्ञेय कहा गया, अब इन दोनों साधनों से प्राप्त होने वाली परम शान्ति का वर्णन किया जाता है–

परम शान्ति

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥13॥

अन्वय–

अस्ति इति एव उपलब्धव्यः च तत्त्वभावेन। उभयोः अस्ति इति उपलब्धस्य एव तत्त्वभावः प्रसीदति।

अर्थ–

अस्ति– परमात्मा है **इति**– इस प्रकार **एव**– ही (शास्त्र से) **उपलब्धव्यः**:– जानना चाहिए **च**– और (इसके पश्चात्) **तत्त्वभावेन**[1]– मन से परमात्मा को जानना चाहिए। **उभयोः**[2]– दोनों साधनों से **अस्ति**– परमात्मा है **इति**– इस प्रकार **उपलब्धस्य**[3]– जानने वाले का **एव**– ही **तत्त्वभावः**:– मन **प्रसीदति**– प्रसन्न हो जाता है अर्थात् अत्यन्त शान्त हो जाता है।

टिप्पणी – 1. तत्त्वं भाव्यतेऽनेन इति तत्त्वभावः मनः। 2. अत्र सम्बन्धसामान्ये तृतीयार्थे षष्ठी। 3. उपलब्ध इत्यत्र कर्तरि क्तप्रत्ययः।

व्याख्या-

परमात्मा है, इस प्रकार (अस्तित्वेन) उसे प्रथम शास्त्र से ही जानना चाहिए क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञेय नहीं है, शास्त्रैक-वेद्य है। शास्त्र से परमात्मा का परोक्ष ज्ञान होने के पश्चात् विशुद्ध मन से उसका साक्षात्कार करना चाहिए क्योंकि अन्य किसी भी करण से उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। शास्त्र से जानने के पश्चात् मनन करके भक्तियोग के द्वारा मन से ही उसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार शास्त्र और मन दोनों साधनों से परमात्मा को जानने वाले उपासक का मन रागादि दोषों से रहित होने के कारण परम शान्ति को प्राप्त करता है।

अब प्रस्तुत मन्त्र का प्रकारान्तर से व्याख्यान किया जाता है-

सविशेषब्रह्म ज्ञेय

अर्थ-

अस्ति- परमात्मा है **इति**- इस प्रकार (उसे) सामान्यरूप से (अस्तित्वेन) **एव**- ही **उपलब्धव्यः**- जानना चाहिए। **च**- और (इसके पश्चात्) **तत्त्वभावेन**[1]- जगत्कारणत्व, अन्तरात्मत्व आदि असाधारण धर्मों (विशेषरूप) से जानना चाहिए। **उभयोः**- सामान्य और विशेष दोनों रूपों में प्रथम शास्त्रप्रमाण से **अस्ति**- परमात्मा है **इति**- इस प्रकार सामान्यरूप से (अस्तित्वेन) **एव**- ही **उपलब्धस्य**- जानने वाले उपासक को **तत्त्वभावः**- परमात्मा के असाधारण धर्मों का **प्रसीदति**- स्पष्ट प्रकाश होता है।

व्याख्या-

शास्त्र 'परमात्मा है।' इस प्रकार सामान्य रूप से परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं और जगत्कारणत्व, सकलचेतनाऽचेतनान्तरात्मत्व आदि असाधारण धर्मों से भी उसका प्रतिपादन करते हैं। अतः शास्त्र के द्वारा उभय प्रकार से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परमात्मा को द्विविध जानने वाला उपासक प्रथम सामान्यरूप से ही ज्ञाता होता है

टिप्पणी - 1. तत्त्वं परब्रह्म तस्य भावः असाधारणधर्मः।

वह विशेषरूप से भी जानकर मनन और निदिध्यासन करके ब्रह्मस्वरूप और उसके जगत्कारणत्वादि असाधारण धर्मो का भी साक्षात्कार करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति में ज्ञेयत्वेन प्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही है।

अब अनुष्ठान काल में ही प्राप्त होने वाला भक्तियोग का फल कहा जाता है–

जीवनकाल में ही ब्रह्मानुभव

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥14॥

अन्वय–

ये कामाः अस्य हृदि श्रिताः, सर्वे यदा प्रमुच्यन्ते। अथ मर्त्यः अमृतः भवति। अत्र ब्रह्म समश्नुते।

अर्थ–

ये– जो **कामाः**– इच्छाएं **अस्य**– उपासक के **हृदि**– हृदय (मन) में **श्रिताः**– स्थित हैं। वे **सर्वे**– सभी **यदा**– जब **प्रमुच्यन्ते**– शान्त हो जाती हैं। **अथ**– तब **मर्त्यः**– मरणधर्मा उपासक **अमृतः**– पूर्व पाप के नाश एवं उत्तर पाप के अश्लेष वाला **भवति**– होता है (और) **अत्र**– शरीर रहते ही उपासनाकाल में **ब्रह्म**– ब्रह्म का **समश्नुते**– अनुभव करता है।

व्याख्या–

सांसारिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले बद्ध जीव की इच्छाओं का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। उपासक की उन सभी इच्छाओं की समाप्ति ब्रह्मसाक्षात्कार से होती है। परमात्मा का साक्षात्कार करने पर मन की इच्छाएं तथा रागद्वेषादि ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संशय-विपर्ययरूप मोक्ष के प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध से अतिरिक्त पुण्यपापरूप सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं– **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**

क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (मु.2.2.9)।। उपासना के आरम्भ से पूर्वकाल में किए अनेक पाप होते हैं और उपासना आरम्भ के पश्चात् भी प्रमाद से कुछ पाप हो जाते हैं, इनमें उपासक के पूर्व काल में किये गये पाप का नाश होता है और उत्तर काल में किए गये पाप से उसका सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् वह पूर्व पाप का नाश एवं उत्तर पाप का अश्लेष रूप अमृतत्व वाला होता है। ब्रह्मज्ञानी साधकोंके कुछ प्राचीन पाप फलभोगनेसे नष्ट हो जाते हैं, कुछ प्रायश्चित्तसे नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मोका नाश फल भोगने पर ही होता है। इस प्रकार जिन कर्मोका फल भोगा गया, जिन कर्मोका प्रायश्चित्त किया गया तथा जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनको छोड़कर अन्य सभी कर्म ब्रह्मविद्यासे उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्निमें डाली गयी सींकके अग्रभागमें स्थित शुष्क रुई जल जाती है– **तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।** (छां.उ.5.24.3), ब्रह्मविद्यारम्भसे उत्तरकालमें प्रमादसे जो कर्म हो जाते हैं। उनसे साधक उसी प्रकार लिपायमान नहीं होता है, जैसे जलसे कमलका पत्ता लिपायमान नहीं होता– **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवम् एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति**(छां.उ.4.14.3)। विद्यारम्भसे पूर्वमें किये गये, जिन कर्मोने फल देना आरम्भ नहीं किया है, ऐसे अनादिकालसे संचित अनन्त पुण्यपापरूप कर्म ब्रह्मविद्यासे विनष्ट हो जाते हैं तथा विद्यारम्भसे उत्तरकालमें किये गये कर्मोसे संश्लेष नहीं होता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर पापों के विनाश और अश्लेष वाला होकर उपासक जीवन रहते ही उपासनाकाल में ब्रह्म का अनुभव करता है। इस प्रकार शरीर रहते ही भक्तियोग के फल का प्रतिपादन किया जाता है।

पूर्वमन्त्र से प्रतिपादित अर्थ में आदर होने के कारण उसका पुनः कथन करते हुए उपदेष्टव्य अंश इतना है, यह कहते हुए उपसंहार करते हैं–

ग्रन्थिनाश से अमृतत्व

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥15॥

अन्वय - यदा इह हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते। अथ मर्त्यः अमृतः भवति। अनुशासनम् एतावद्।

अर्थ-

यदा- जब **इह**- इस शरीर की विद्यमान दशा में **हृदयस्य**- अन्तः करण की **सर्वे**- सभी **ग्रन्थयः**- ग्रन्थियाँ **प्रभिद्यन्ते**- अत्यन्तं निवृत्त हो जाती हैं। **अथ**- तब **मर्त्यः**- उपासक **अमृतः**- पूर्व पाप के नाश और उत्तर पाप के अश्लेष वाला **भवति**- होता है। उपासक के लिए **अनुशासनम्**- उपदेश के योग्य **एतावद्**- इतना ही है।

व्याख्या-

राग-द्वेष, शोक-मोह और कामनाएं ये सभी ग्रन्थि के समान छोड़ने में कठिन होने से ग्रन्थि कही जाती हैं। प्रभिद्यन्ते का अर्थ है- प्रकर्षता से छूट जाती हैं अर्थात् वासनाओं सहित छूट जाती हैं। भक्तियोग से ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की सभी ग्रन्थियाँ संस्कारों सहित निवृत्त हो जाती हैं। इसके पश्चात् मरणधर्मा उपासक पूर्वोत्तर पापों के विनाश और अश्लेषरूप अमृतत्व की प्राप्ति वाला होता है। उपासक के लिए आचार्य के द्वारा उपदेष्टव्य विषय इतना है, इससे अतिरिक्त नहीं अर्थात् उपदिष्ट उपाय से अतिरिक्त उपाय नहीं है।

अब मोक्ष को प्राप्त करने वाले उपासक के उत्क्रमण की रीति और मोक्ष कहा जाता है -

सुषुम्ना से उत्क्रमण और मोक्ष

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥16॥

अन्वय-

हृदयस्य शतं च एका च नाड्यः, तासाम् एका मूर्द्धानम् अभिनिस्सृता। तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम् एति। विष्वङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति।

अर्थ-

हृदयस्य- हृदय की **शतं च एका च**- एक सौ एक **नाड्यः**- नाडियाँ होती हैं। **तासाम्**- उनमें से **एका**- एक नाड़ी **मूर्द्धानम्**- मूर्धा की ओर **अभिनिस्सृता**- निकलती है। **तया**- उस नाडी से **ऊर्ध्वम्**- ब्रह्मलोक **आयन्**- जाकर **अमृतत्वम्**- मोक्ष को **एति**- प्राप्त करता है। **विष्वङ्**- विभिन्न दिशाओं (मूर्धा को छोड़कर अन्य दिशाओं) में जाने वाली **अन्याः**- अन्य नाडियाँ (विभिन्न प्रकार की योनियों में जाने वाले) अज्ञानी प्राणी के **उत्क्रमणे**- उत्क्रमण के लिए **भवन्ति**- होती हैं।

व्याख्या-

मनुष्य के शरीर में 72 हजार नाडियाँ विद्यमान हैं, इन सबके मूल हृदय में रहते हैं। इनमें 101 नाडियाँ प्रधान हैं। उनमें एक नाड़ी हृदय से मूर्धा की ओर जाती है। इसे सुषुम्ना नाडी, ब्रह्मनाडी और मूर्धन्य नाडी भी कहते हैं। ब्रह्म का अपरोक्ष दर्शन करने वाला उपासक उस नाडी से अर्चिरादि मार्ग के द्वारा अप्राकृत ब्रह्मलोक जाकर अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भावपूर्वक ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। अन्य 100 नाडियाँ हृदय से इधर-उधर फैली रहती हैं। वे भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करने के लिए भिन्न-भिन्न लोकों में जाने वाले प्राणी के उत्क्रमण के लिए हैं। इस प्रकार ब्रह्मविद्यानिष्ठ मोक्षप्राप्ति के लिए सुषुम्ना के द्वारा मूर्द्धा में स्थित ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करता है और अन्य सभी इतर नाड़ियों के द्वारा अन्य स्थानों से उत्क्रमण करते हैं।

पूर्व में मोक्षप्राप्ति के लिए मूर्धद्वार से निकलने का प्रतिपादन किया गया। अब उसकी योग्यता के लिए आत्मभिन्नत्वेन परमात्मा का अनुसंधान कहा जाता है -

अन्तरात्मा का आत्मभिन्नत्वेन अनुसंधान

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥17॥

अन्वय-

अन्तरात्मा पुरुषः अङ्गुष्ठमात्रः जनानां हृदये सदा सन्निविष्टः। इषीकां मुञ्जाद् इव तं शरीरात् स्वात् धैर्येण प्रवृहेत्। तं शुक्रम् अमृतं विद्यात्, तं शुक्रम् अमृतं विद्यात् इति।

अर्थ-

सबका **अन्तरात्मा**- अन्तरात्मा **पुरुषः**- ब्रह्म **अङ्गुष्ठमात्रः**- अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला होकर **जनानाम्**- चेतन आत्माओं के (शरीर में स्थित) **हृदये**- हृदय में **सदा**- सदा **सन्निविष्टः**- स्थित रहता है। **इषीकाम्**- सींक को **मुञ्जाद्**[1]- मूँज से (भिन्न समझने) **इव**- के समान **तम्**- अन्तरात्मा को (उसके) **शरीरात्**- शरीरभूत **स्वात्**- अपनी आत्मा से **धैर्येण**[2]- एकाग्र मन के द्वारा **प्रवृहेत्**- भिन्न समझना चाहिए। **तम्**- अन्तरात्मा को **शुक्रम्**- स्वप्रकाश (और) **अमृतम्**- निरुपाधिक भोग्य (अनुभाव्य) **विद्यात्**- समझना चाहिए। **तम्**- अन्तरात्मा को **शुक्रम्**- स्वप्रकाश (और) **अमृतम्**- निरुपाधिक भोग्य **विद्यात्**- समझना चाहिए।

व्याख्या-

ब्रह्म सब का अन्तरात्मा है। वह चेतन आत्माओं के शरीर के अन्तर्गत हृदय स्थान में रहता है। हृदय का अल्प परिमाण होने से अन्तरात्मा का भी अल्प अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र परिमाण कहा है अथवा भक्तों के ध्यान की सुविधा के लिए अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले विग्रह को धारण करने से उनका अङ्गुष्ठमात्र परिमाण कहा है। अन्तरात्मा परमात्मा भक्तों के ध्यान का आलम्बन बनने के लिए अङ्गुष्ठमात्र परिमाण से युक्त विग्रह को धारण करके हृदय में सदा स्थित रहते हैं। परमात्मा का शरीर आत्मा है- **यस्य आत्मा शरीरम्** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि शास्त्रवचन आत्मा को परमात्मा का शरीर कहते हैं। जैसे मूँज के मध्य में स्थित सींक को मूँज से भिन्न समझा जाता है, वैसे एकाग्र मन के द्वारा आत्मा में विद्यमान अन्तरात्मा का आत्मा से भिन्नरूप

टिप्पणी- 1. मुञ्जः तृणविशेषः। 2. धीरभावेन सूक्ष्मदृष्ट्या इत्यर्थः।

में साक्षात्कार करना चाहिए। आत्मा, धार्य, नियाम्य और शेष है, अन्तरात्मा धारक, नियन्ता और शेषी है, इस प्रकार आत्मा से उसका अन्तरात्मा ब्रह्म भिन्न ही है। उपासक आराधना से प्रसन्न हुए अपनी आत्मा से भिन्न अन्तरात्मा ब्रह्म का और इसकी महिमा का जब साक्षात्कार करता है, तब शोकरहित हो जाता है- **जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।** (मु.उ.3.1.2,श्वे.उ.4.7) इस प्रकार मोक्ष के साधनरूप से आत्मा में स्थित, आत्मा से भिन्न परमात्मा का साक्षात्कार सुना जाता है। अन्तरात्मा स्वयंप्रकाश है, आत्मा भी स्वयंप्रकाश है किन्तु अन्तरात्मा ब्रह्म स्वेतरानधीन स्वयंप्रकाश है अर्थात् स्वयंप्रकाश ब्रह्म अपने से भिन्न किसी के अधीन नहीं है और स्वयंप्रकाश आत्मा अपने से भिन्न ब्रह्म के अधीन है। यह दोनों में भेद है। आत्मा का निरुपाधिक (स्वभाविक) भोग्य परमात्मा है। आत्मा ने अनादि कर्मरूप अज्ञान उपाधि से सांसारिक शब्दादि विषयों को भोग्य समझ रखा है, ये उसके निरुपाधिक भोग्य नहीं हैं, निरुपाधिक भोग्य तो परमात्मा ही है। ब्रह्मसाक्षात्कार से प्रतिबन्धक उपाधि निवृत्त होते ही अन्तरात्मा ब्रह्म सदा अनुभव में आता रहता है।

अब आख्यायिका (कथानकरूप कठोपनिषत्) के विषय का उपसंहार करते हैं –

ब्रह्मविद्या का फल

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥18॥

॥ इति तृतीया वल्ली॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥

अन्वय-

नचिकेतः मृत्युप्रोक्ताम् एतां विद्यां च कृत्स्नं योगविधिं लब्ध्वा ब्रह्म प्राप्तः विमृत्युः विरजः अभूत्। अन्यः यः अपि अध्यात्मम् अथ विद्, एवम् एव।

अर्थ-

नचिकेतः- नचिकेता ने **मृत्युप्रोक्ताम्**- मृत्यु देवता के द्वारा उपदिष्ट **एताम्**- इस **विद्याम्**- ब्रह्मविद्या **च**- और **कृत्स्नम्**- सम्पूर्ण **योगविधिम्**- योगविधि को **लब्ध्वा**- जानकर (मनन, निदिध्यासन से हृदयग्रन्थि का नाश करके अर्चिरादि द्वारा जाकर) त्रिपादविभूति में **ब्रह्म**- ब्रह्म को **प्राप्तः**- प्राप्त करके **विमृत्युः**- मृत्यु से रहित (तथा) **विरजः**- अन्य विकारों से रहित **अभूत्**- हो गया। **अन्यः**- अन्य **यः**- जो **अपि**- भी **अध्यात्मम्**- आत्मा में विद्यमान परमात्मा को **अथ**- यदि **विद्**- जानता है। (तो) वह भी **एवम्**- ऐसा **एव**- ही हो जाता है।

व्याख्या-

संसार के समस्त भोगों को तुच्छ समझकर आकर्षित न होने वाले, तीव्र वैराग्यवान् नचिकेता ने आचार्य यम के द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या और **यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते** (क.उ.2.3.10) इत्यादि रीति से उपदिष्ट योगविधि को प्राप्त किया। प्रथम अध्याय में प्रधानता से ब्रह्मविद्या का निरूपण है और द्वितीय अध्याय में प्रधानता से योगविधि का प्रतिपादन है। मन को ध्येय ब्रह्म में समाहित करने की विधि योगविधि कही जाती है। इन दोनों को प्राप्त करके मनन तथा दर्शनसमानाकार निदिध्यासन से हृदयग्रन्थि का भेदन और मूर्धन्यनाडी से उत्क्रमण करके अर्चिरादि मार्ग द्वारा अप्राकृत भगवद्धाम जाकर परज्योति (परब्रह्म) को पाकर अपहतपाप्मत्वादिरूप से आविर्भूत होता है- **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** (छां.उ.8.12.2)।। यह श्रुति देशविशेष से विशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त करके मुक्तात्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भाव का वर्णन करती है। छान्दोग्य की दहरविद्या (छां.उ. 8.1.5) में अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्म के गुण कहे गये हैं और प्रजापतिविद्या

(छां.उ.8.7.1) में आत्मा के गुण कहे गये हैं। ब्रह्म के अपहतपाप्मत्वादि धर्म सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु प्रकृतिसंसर्ग के कारण बद्धावस्था में जीवात्मा के धर्म तिरोहित हो जाते हैं। मुक्तावस्था में उनका आविर्भाव हो जाता है। अपहतपाप्मत्वादि आठ धर्म इस प्रकार है– **अपहतपाप्मत्व (पापरहितत्व), जरारहितत्व, मृत्युरहितत्व, शोकरहितत्व, क्षुधारहितत्व, पिपासारहितत्व, सत्यकामत्व, और सत्यसंकल्पत्व।** प्रस्तुत कठश्रुति में पढ़ा गया विमृत्यु शब्द मृत्युरहितत्व का बोधक है तथा विरजत्व शब्द अन्य सभी का लक्षणा से बोधक है। अन्य जो कोई भी (परमात्मा के शरीरभूत) आत्मा में विद्यमान परमात्मा को मूँज में विद्यमान सींक को मूँज से भिन्न जानने के समान आत्मा से भिन्न प्रत्यक्ष जानता है, वह भी नचिकेता के समान हो जाता है अर्थात् देशविशेष से विशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त करके गुणाष्टक के आविर्भाव वाला होकर परब्रह्म का अनुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

॥ तृतीयवल्ली की व्याख्या समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति॥ हरिः ॐ॥
इति कठोपनिषत्

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृता।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्या तत्त्वविवेचनी॥1॥
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः॥2॥

परिशिष्ट

परिशिष्ट - 1

मन्त्रानुक्रमणिका

परिशिष्ट - 2
संकेताक्षरानुक्रमणिका

अ. पु.	अग्निपुराणम्
अ. सं.	अत्रिसंहिता
अ. सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
आ. भा.	आनन्दभाष्यम्
आ. श्रौ.सू.	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
ई. उ.	ईशावास्योपनिषत्
उ. ख.	उपनिषत्खण्डार्थव्याख्या
ऋ. प्रा.	ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्
क.उ.शां.भा.	कठोपनिषत्-शांकरभाष्यम्
गी.रा.भा.	गीतारामानुजभाष्यम्
गो. टी	गोपालटीका शांकरभाष्यस्य
च.	चन्द्रालोकः

जा. उ.	जाबालदर्शनोपनिषत्
जै. न्या. वि.	जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः
जै. सू.	जैमिनीयसूत्रम्
ता. च.	तात्पर्यचन्द्रिका गीतारामानुजभाष्यस्य व्याख्या
तै.आ.	तैत्तिरीय-आरण्यकम्
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय-ब्राह्मणम्
पु.सू.	पुरुसूक्तम्
प्रका.	प्रकाशिका (रङ्गरामानुजभाष्यम्)
प्रदी.	प्रदीपिका
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यन्दिनपाठः
भा.द.	भाष्यार्थदर्पणम् श्रीभाष्यस्य व्याख्या
म.भा.	महाभाष्यम्
म.भा.अ.	महाभारत- अनुशासनपर्व
म.भा.शां	महाभारतशान्तिपर्व
म.मु.	मन्वर्थमुक्तावली मनुस्मृतेः व्याख्या
म.स्मृ.	मनुस्मृतिः
य.सं.	यजुर्वेदसंहिता
यो.सू	योगसूत्रम्
रा.च.मा.	रामचरितमानस
वा.रा.	वाल्मीकीयरामायणम्
वि.पु.	विष्णुपुराणम्
वि.स.ना.	विष्णुसहस्रनाम
श्रीभा.	श्रीभाष्यम्
श्रु.प्र.	श्रुतप्रकाशिका श्रीभाष्यस्य व्याख्या
श्वे.उ.	श्वेताश्वेतरोपनिषत्
सु.उ.	सुबालोपनिषत्
सि.कौ.स.	सिद्धान्तकौमुदी- समासाश्रयविधिप्रकरणम्

परिशिष्ट - 3
प्रमाणानुक्रमणिका

परिशिष्ट - 4
ग्रन्थानुक्रमणिका

1. **अग्निमहापुराणम्**
   नाग प्रकाशन दिल्ली, सन् 1985
2. **अर्थपञ्चक**
   व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, मंगलम् कुटीरम्,
   गंगा लाइन, स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश, वि. सं. 2067
3. **अष्टादश स्मृति**
   भाषाटीकासहित, नाग प्रकाशन दिल्ली, सन् 1990
4. **आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश**
   वामन शिवराम आप्टे विरचित, नागप्रकाशन, दिल्ली, सन् 1988
5. **ईशादि नौ उपनिषद्**
   हिन्दीव्याख्या सहित, व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयन्दका,
   गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2040
6. **ईशादिपञ्चोपनिषदः**
   गूढार्थदीपिकाव्याख्यासहित, व्याख्याकार श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य
   श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ समिति,
   ओझापट्टी सेमरिया, जि. भोजपुर. वि.सं. 2049
7. **ईशाद्यष्टोपनिषत्**
   भगवन्निम्बार्कमतानुयायिमहानुभावविद्वद्भिर्विरचिता
   उपनिषत्प्रकाशाख्यटीकोपेता, प्रभाकर मुद्रणालय,
   मथुरा वि. सं. 1994
8. **ईशावास्याद्युपनिषद्**
   विद्याविनोदभाष्यसहित,
   रचयिता महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्द जी महाराज,
   गीताधर्म प्रेस, साक्षीविनायक वाराणसी, सन् 1948

9. ईशावास्योपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या सहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 2014

10. उपनिषत्संग्रहः

मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन् 2006

11. उपनिषद्भाष्यम्

श्रीमदानन्दतीर्थविरचितम् उपनिषत्खण्डार्थेन च विभूषितम् पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम्, बेंगलूरु-28, सन् 1997

12. उपनिषद्वाक्यमहाकोशः (भाग-1)

शास्त्री गजानन साथले, रूपा बुक्स प्रा.लि. जयपुर, सन् 1991

13. उपासनादर्पण

सम्पादक स्वामी त्रिभुवनदास, मलूकपीठ वंशीवट, वृन्दावन, सन् 2010

14. ऋक्संहिता

सायणाचार्यविरचितभाष्यसहिता, गणपति कृष्णा जी मुद्रणालय मुम्बई, सन् 1967

15. ऋग्वेदप्रातिशाख्य (एक परिशीलन)

डॉ. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, सन् 1972

16. कठोपनिषत्

भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृतसंशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2002

17. कठोपनिषत्

श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितभाष्योपेता, तिरुमला तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति, सन् 1984

18. कठोपनिषद्

विस्तृत भूमिका संस्कृत-हिन्दी अनुवाद तथा शांकरभाष्य सहित सम्पादक डा. विजेन्द्र कुमार शर्मा, साहित्यभण्डार मेरठ, सन् 1999

19. काठकोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता,

हिन्दीव्याख्याकार महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि, कैलास आश्रम, ऋषीकेश, वि.सं. 2039

20. **काठकोपनिषत्**
आनन्दगिरिगोपालयतीन्द्रविरचितटीकाद्वयसंवलितेन श्रीमच्छांकरभाष्येण समेता, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पुणे, 1897

21. **केनोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली सन् 2015

22. **केनाद्युपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्य, 25 नाथमुनि वीथी, ति.नगर, मद्रास–17 सन् 2003

23. **एकादशोपनिषदः**
मणिप्रभया, मिताक्षरया दीपिकया च समलङ्कृताः मोतीलाल बनारसीदास लाहौर, सन् 1937

24. **टुप्टीका**
मीमांसासूत्रीयशाबरभाष्यटीका, भट्ट श्रीकुमारिलस्वामिविरचिता चौखम्बा संस्कृत बुक डिपाट बनारस, सन् 1904

25. **पातञ्जलयोगदर्शनम्**
व्यासभाष्यसंवलितम् हिन्दी व्याख्याकार डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव्य शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, सन् 1998

26. **पुराणगत वेदविषययक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन**
डा. रामशंकर भट्टाचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सन् 1965

27. **पुराणविमर्श**
आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, सन् 2002

28. **बृहद्धातुकुसुमाकरः**
पं. हरेकान्त मिश्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 1995

29. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्

भाषानुवाद - सत्यानन्दीदीपिकासहितम्, गोविन्दमठ,
टेढी नीम वाराणसी, वि.सं. 2058

30. ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्यम्

श्रुतप्रकाशिकासहितम् (द्वितीयः भागः)
विशिष्टाद्वैत प्रचारिणी सभा, मद्रास, सन् 1989

31. मनुस्मृतिः

मन्वर्थमुक्तावलीसहिता, मणिलालादेसाई गुजराती मुद्रणालय,
मुम्बई, सन् 1913

32. महाभारत (षष्ठ खण्ड)

हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2053

33. महाभाष्यम्

हिन्दीव्याख्यासहितम् - प्रथमो भागः (प्रथमः खण्डः)
व्याख्याकारः युधिष्ठिरो मीमांसकः रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़, हरियाणा, वि.सं. 2049

34. मीमांसाकोषः (द्वितीयो भागः)

सम्पादक केवलानन्द सरस्वती, श्री सद्गुरु पब्लिकेशन
इण्डियन बुक सेन्टर दिल्ली, सन् 1992

35. मीमांसाकोषः (तृतीयो भागः)

सम्पादक केवलानन्द सरस्वती, श्री सद्गुरु पब्लिकेशन
इण्डियन बुक सेन्टर दिल्ली, सन् 1992

36. मीमांसाशाबरभाष्यम् (भाग-3)

आर्षमतविमर्शिन्या हिन्दी व्याख्यया सहितम्,
व्याख्याकारः, युधिष्ठिरो मीमांसकः,
रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, हरियाणा, वि.सं. 2037

37. मीमांसाशाबरभाष्यम् (भाग-4)

आर्षमतविमर्शिन्या हिन्दी व्याख्यया सहितम्,
व्याख्याकारः, युधिष्ठिरो मीमांसकः,
रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, हरियाणा, वि.सं. 2041

38. **मीमांसाशाबरभाष्यम् (भाग-6)**
आर्षमतविमर्शिन्या हिन्दी व्याख्यया सहितम्,
व्याख्याकारः, युधिष्ठिरो मीमांसकः,
रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, हरियाणा, वि.सं. 2047

39. **लघुसिद्धान्तकौमुदी**
गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2043

40. **लघुसिद्धान्तकौमुदी (भाग-1)**
भैमीव्याख्या, व्याख्याकार डा. भीमसेन शास्त्री,
भैमी प्रकाशन दिल्ली, सन् 2008

41. **विशिष्टाद्वैतकोशः (षष्ठः सम्पुटः)**
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 1997

42. **विशिष्टाद्वैतकोशः (सप्तमः सम्पुटः)**
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2005

43. **व्याकरणमहाभाष्यम् (चतुर्थो भागः)**
उद्योतपरिवृतप्रदीपसहितम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली,
सन् 1987

44. **शांकरवेदान्तकोशः**
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् 1998

45. **श्वेताश्वतरोपनिषत्**
श्रीरङ्गरामानुजविरचितप्रकाशिका-श्रीरामानन्दमुनिविरचितानन्दाख्य
भाष्यद्वयोपेता, संस्कृत संसोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2012

46. **श्रीअग्निमहापुराणम्**
नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1985

47. **श्रीगरुडमहापुराणम्**
नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1984

48. **श्रीब्रह्ममहापुराणम्**
नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1985

49. **श्रीभाष्यम् (प्रथमो भागः)**
उत्तमूर श्रीवीरराघवाचार्यकृतम् भाष्यार्थदर्पणसमेतम्,
श्रीरङ्गम् श्रीमद् आण्डवन आश्रमम् श्रीरङ्गम्, सन् 1997

50. **श्रीभाष्यम् द्वितीयः सम्पुटः (विमर्शात्मकं सम्पादनम्)**
भगवद्रामानुज विरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1987

51. **श्रीभाष्यम् तृतीयः सम्पुटः (विमर्शात्मकं सम्पादनम्)**
भगवद्रामानुज विरचितम्, संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 1990

52. **श्रीमद्भगवद्गीता**
तात्पर्यचन्द्रिकासहितं रामानुजभाष्यम्, श्रीरङ्गनाथप्रेस, वृन्दावन, सन् 1976

53. **श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (भाग 1-2)**
हिन्दीभाषान्तरसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

कठोपनिषत् की व्याख्या में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ अत्यन्त सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की संक्षिप्त समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य हो गया है।

व्याख्याकार की कृतियाँ

* विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
* तत्त्वत्रयम् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* ईशावास्योपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* केनोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* प्रश्नोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)

प्रकाशनाधीन

* मुण्डकोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* माण्डूक्योपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* तैत्तिरीयोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* ऐतरेयोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* श्री[illegible]गीता (हिन्दीव्याख्या)
* [illegible]ाख्या)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली